मालिनीविजयवार्तिकम्

आचार्यकृष्णानन्दसागरः

श्रीशिवोऽहंसागरग्रन्थमालायाः नवमं पुष्पम्—



श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचितं

मालिनीविजयवार्तिकम्

अनन्तश्रीविभूषित १००८ महामण्डलेश्वर-

श्रीमदखण्डानन्दसागरमहाराजानां

निदेशेन

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण

भूमिकया सह सम्पाद्य
प्रकाशितम्

Shri Shivoham Sagar Granthmala's Nineth Puspa–



SHRI MADABHINAVAGUPTACHARYA

of

MALINIVIJAYAVARTIKAM

Published by

Sarvadarshnacharya

Shri Krishnanand Sagar

Edited with Introduction

Under Direction from

1008 Mahamandaleshwar

Shri Swami Akhandanand Sagar Maharaj

Published by

Acharya Krishnanand Sagar

D. 38/135, Bans Phata

VARANASI-221 010

&

Shri Madhvanand Ashram

P. O.-Dharmaj : Distt.-Kheda

GUJARAT.

First Edition

1985

Price Rs. : U4/-

Printed by

JYOTI PRESS

Madhyameshwar, Varanasi.

भूमिका

भारतीय दर्शनशास्त्र की चिन्तन सरणि केवल बौद्धिक विलास की वस्तु नहीं रही है, अपितु आध्यात्मिक उच्च जीवन-सरणि है। इसलिये भारतीय दार्शनिक जीवन गम्भीर रहस्य को समझाने के लिये आन्तरिक प्रेरणा से प्रणोदित होता था और अपने जीवन का निर्माण करने में सदैव जागरित रहता था। उनकी साधना में व्यग्रता रहती थी और अपने जीवन को रूपान्तरित कर आत्मदर्शन करता रहे, जिस सत्य सनातन वस्तु का अनुभव अपने लोगों के लिये करुणा से आप्लावित होकर करता था, उसे मनुष्य की तार्किक प्रतिभा को अवगत कराने का सदैव यत्न करता रहे। इसलिये इस देश में नित्य नूतन दर्शन के दार्शनिक उत्पन्न होते रहे हैं, देश-काल एवं वातावरण के अनुरूप नयी दिशा देकर राष्ट्रीय, सामाजिक एवं धार्मिक भावनाओं को स्थिर बनाये रखे हैं।

कश्मीर दर्शन का इतिहास कुछ विलक्षण है। सहस्र वर्षों से इसका ज्ञान प्रवाह चला आ रहा है। अनेक दार्शनिक आचार्यों ने इस ज्ञानप्रवाह को अक्षुण्य रखा, अपनी आध्यात्मिक साधना के बल से विशदतया विस्तार को प्राप्त हुआ। मौखिक परम्परा द्वारा उसके मौलिक सिद्धान्तों से अवगत होते थे। किन्तु इस शैवाद्वैत दर्शन का लिखितरूप में प्रस्तुत करनेवाले सर्वप्रथम वसुगुप्तपाद थे। इसके अनन्तर भी लिखित रूप में दार्शनिक ग्रन्थ अद्यावधिपर्यन्त पाये जाते हैं। सम्प्रति यह शैवदर्शन विश्व की उच्चकोटि के साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित है।

शैवाद्वैत दर्शन का वाङ्मय तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे-आगमशास्त्र, स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र।

(१) आगमशास्त्र दैवीज्ञान है और यह गुरु एवं शिष्य परम्परा से प्राप्त है। शिवसूत्र, रुद्रयामल, मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, नेत्रतन्त्र, विज्ञान-भैरव, परात्रिशीका, मृगेन्द्रतन्त्र ये ग्रन्थ आगमशास्त्र के अन्तर्गत गिने जाते हैं। इन पर कश्मीरी दार्शनिकों की टीका-व्याख्याएँ भी उपलब्ध हैं।

(२) स्पन्दशास्त्र में इस दर्शन का मुख्य सिद्धान्त प्रतिपादित है। स्पन्दकारिका स्पन्दशास्त्र का प्रधान ग्रन्थरत्न है इसका अपर नाम स्पन्दसूत्र है और इसमें शिवसूत्र में प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्तों का विस्तार है। कुछ व्याख्याएँ इस पर प्राप्त हैं जैसे भट्टकल्लट की वृत्ति, रामकण्ठाचार्य की विवृत्ति, उत्पल वैष्णव की प्रदीपिका, क्षेमराज का स्पन्दसन्दोह एवं स्पन्दनिर्णय तथा कृष्णानन्दसागरकृत स्पन्दरञ्जनी।

(३) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में शैवाद्वैत दर्शन का मुख्य सिद्धान्तों का मनुष्य की तार्किक प्रतिभा के लिये विवेचन है। यद्यपि इसमें आगमसम्बन्धी दार्शनिक पक्ष का उच्चकोटि का प्रतिपादन हुआ है तो भी कुछ तर्क, पक्ष-प्रतिपक्षों का खण्डन-मण्डन अवश्य ही किया गया है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का मूल ग्रन्थरत्न शिवदृष्टिः है जिसका निर्माण श्रीसोमानन्दपाद ने किया है। इनके शिष्य उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का प्रणयन किया है। इनके प्रशिष्य अभिनवगुप्तपाद ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, विवृत्ति विमर्शिनी, तन्त्रालोक, परमार्थसार, तन्त्रवटधानिका, बोधपञ्चदशिका, परमार्थचर्चा, क्रमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, परात्रिंशीका विवरण, अनुत्तराष्टिका, अनुभव-निवेदनस्तोत्र, देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र तथा मालिनीविजयवार्त्तिक का निर्माण किया है। मालिनीविजयवार्तिक––इस ग्रन्थ में मालिनीविजयोत्तर-तन्त्र के अत्यन्त गोपनीय तत्त्वों का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है तथा शैवाद्वैत सम्बन्धी योग प्रक्रिया का विभिन्न मार्गों का रहस्य उन्मीलित है। शैवाद्वैत दर्शन की व्यापक दृष्टि एवं उसकी बौद्धिक विलक्षणता इस वार्तिक में पायी जाती है।

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रह यह परम शिव का पञ्चरूपात्मक स्वातन्त्र्य है और यही उसका ऐश्वर्य है। विश्व में सब उसका ही स्वरूप है। जैसा कि अनुत्तरपञ्चाशिका में कहा है––

'शिवादिक्षितिपर्यन्त विश्वं वपुरुदञ्चयन्।
पञ्चकृत्यमहानाटचरसिकः क्रीडति प्रभुः॥ २॥

अपनी अप्रतिहतस्वातन्त्र्यशक्ति से मायीय भेदप्रथाओं में विभक्त होकर अनन्त प्रमेयादि पदार्थों के रूप में भासित होते हैं। तथा च मालिनीविजय में ग्रन्थकार ने कहा है––

आत्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः॥ २-१८६

अनेक स्वरूपों को धारण करके भी वह अपने विश्वोत्तीर्ण स्वरूप से उसी प्रकार प्रच्युत नहीं होता है जैसे अनन्त वीचिमालाओं के रूप में विलसित होकर भी समुद्र अपने वीचिरूपोत्तीर्ण समुद्रत्व से प्रच्युत नहीं होता है। यह सब परमशिव की स्वातन्त्र्यशक्ति का ही विलास है और वह शिव से अभिन्न है। जैसा कि पूर्णताप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है--

त्रिशक्तिरेकशक्तिर्वा देवो वा केवलः स्थितः।
शक्तिरेवाथ देवी सा सा च शास्त्रे निरूप्यते।। ५६ ।।

सैका सत्यप्यनेकत्वं गच्छतीति पिनाकिना।
मालिनीविजये प्रोक्तं वार्तिके प्रकटीकृतम्।। ५७ ।।

सुमेरौ परमाणौ वा समाधौ व्युत्थितावपि।
न तया रहितो देवो देवी तद्रहिता न हि।। ५८ ।।

इस प्रकार परमशिव इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया से युक्त होकर स्थित है, जो शक्तिस्वरूपा महादेवी विश्वरूप में स्थित है। वह परमतत्त्व तो अणु से भी अणु और महान् से भी महान् सुमेरु जैसी वस्तु में विद्यमान है। शिव अपना ज्ञानमय स्वरूप स्वतन्त्र रूप से अनुयायादि क्रम से प्रकाशित करता है--

'इच्छाख्यः शाम्भवः प्रोक्तो ज्ञानं शाक्तस्तु भज्यते।
आणवस्तु क्रियारूपः फलभेदविवर्जितः'।।

इत्यादि क्रम से प्रतिपादित है किन्तु उपायों के फल में कोई भेद नहीं है। वस्तुतः उपायत्रय ज्ञानस्वरूप ही है और ये केवल अभेद, भेदाभेद एवं भेद रूप से भासित होते हैं। जैसे स्वच्छ दर्पण में विचित्र नगर, ग्राम, वृक्ष, फल आदि वस्तुवर्ग का प्रतिबिम्ब दर्पण से अभिन्न होते हुए भी परस्पर एवं दर्पण से भिन्न भासित होते हैं, इसी प्रकार यह विश्व परम शिव से अभिन्न होते हुए भी परस्पर और ज्ञानरूप से भी भिन्न भासित होता है।

'अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद्
विचित्ररचना मकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या
विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा।।'

दर्पण जड वस्तु है, उसे प्रतिबिम्बों का ज्ञान नहीं है, किन्तु चिद्रूप को सारा बोध रहता है।

तथा च बोधपञ्चदशिका में कहा है—

अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तममेव यत्।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता॥ ७॥
परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम्।
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते॥ ८॥

अत एव परिच्छिन्न प्रकाशरूपता जड का लक्षण है किन्तु जड से विलक्षण अपरिच्छिन्न प्रकाशस्वरूप बोध ही अनुत्तर शिवतत्त्व है और यही परमाद्वैत है।

विजयादशमी
२०४२

कृष्णानन्दसागरः

ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

अथ

श्रीमालिनीविजयवार्तिकम्

श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचितम्

प्रथमः काण्डः

विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहा जननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः ।
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात् ॥ १ ॥

यदीयबोधकिरणैरुल्लसद्भिः समन्ततः ।
विकासिहृदयाम्भोजा वयं स जयताद्गुरुः ॥ २ ॥

साभिमर्शषडर्थार्थिपञ्चस्रोतः समुज्ज्वलान् ।
यः प्रादान्मह्यमर्थौघान्दौर्गत्यदलनव्रतान् ॥ ३ ॥

श्रीमत्सुमतिसंशुद्धसद्भक्तजनदक्षिणः ।
शंभुनाथः प्रसन्नो मे भूयाद्वाक्पुष्पतोषितः ॥ ४ ॥

गुरुभ्योऽपि गरीयांसं युक्तं श्रीचुखलाभिधम् ।
वन्दे यत्कृतसंस्कारः स्थितोऽस्मि गलितग्रहः ॥ ५ ॥

ततो गुरुतरः श्रीमान्भूतिराजो महामतिः ।
जयताद्भक्तजनतासमुद्धरणसाहसः ॥ ६ ॥

श्रीसोमानन्दसंबोधश्रीमदुत्पलनिःसृताः ।
जयन्ति संविदामोदसंदर्भा दिक्प्रसर्पिणः ॥ ७ ॥

तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदिप्रत्यभिज्ञोपदेशिनः ।
श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वचः ॥ ८ ॥

अप्यसंख्यनवास्वादचमत्कारैकदुर्मदा ।
येनानुत्तरसंभोगतृप्ता मे मतिषट्पदी ॥ ९ ॥

तदेकमयतामाप्य स्वात्मन्येव तथा स्थिता ।
तदस्याः प्रोन्मिषन्त्येव विविधा नादसंपदः ॥ १० ॥

सच्छिष्यकर्णमन्द्राभ्यामर्थितोऽहं पुनः पुनः ।
वाक्यार्थं कथये श्रीमन्मालिन्यां यत्क्वचित्क्वचित् ॥ ११ ॥

औचित्येनेतरत्यागाद्वाच्यवाचकयोर्मिथः ।
वर्तनावर्त एतस्मिन्साधु शास्त्रं च वार्तिकम् ॥ १२ ॥

येऽहर्निशं प्रकाशन्ते सर्वस्य च न गोचरे ।
नमोऽभिनवगुप्तांस्ताञ्शिवचन्द्रांशुसंचयान् ॥ १३ ॥

जयन्ति जगदानन्दविपक्षक्षपणक्षमाः ।
परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचयः ॥ १४ ॥

अनियन्त्रितसद्भावाद्भावाभेदैकभागिनः ।
यत्प्राग्जातं महाज्ञानं तद्रश्मिभरभैरवम् ॥ १५ ॥

ततस्तादृक्स्वभावीयहेयोपादेयवर्जितम् ।
विततीभावनाचित्ररश्मितामात्रभेदितम् ॥ १६ ॥

अभिमर्शस्वभावं तद्धृदयं परमेशितुः ।
तत्रापि शक्त्या सततं स्वात्ममय्या महेश्वरः ॥ १७ ॥

यदा संघट्टमासाद्य समापत्तिं परां व्रजेत् ।
तदास्य परमं वक्त्रं विसर्गप्रसरास्पदम् ॥ १८ ॥

अनुत्तरविकासोद्यज्जगदानन्दसुन्दरम् ।
भाविवक्त्राविभागेन बीजं सर्वस्य यत्स्थितम् ॥ १९ ॥

हृत्स्पन्दद्रवपरासारनिर्नामोर्म्यादि तन्मतम् ।
एतत्परं त्रिकं पूर्वं सर्वशक्त्यविभागवत् ॥ २० ॥

अत्र भावसमुल्लासशङ्कासंकोचविच्युतिः ।
स्वानन्दलीनतामात्रमात्रिच्छाकर्मदृक्त्रयम् ॥ २१ ॥

तथा च गरवः शैवदृष्टावित्थं न्यरूपयन् ।
स यदास्ते चिदाह्लादमात्रानुभवतल्लयः ॥ २२ ॥

तदिच्छा तावती ज्ञानं तावत्तावत्क्रिया हि सा ।
सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते ॥ २३ ॥
चिद्रूपाह्लादपरमस्तदाभिन्नो भवेदिति ।
ननु चेदृशि विश्वात्मभूते संकोचवर्जनात् ॥ २४ ॥
विकल्पकल्पनामूलाः कथं शास्त्रादिसंपदः ।
उच्यते सर्व एवायं बोधः संवित्प्रभामयः ॥ २५ ॥
प्रकाशरूपतायोगाच्चिदामर्शघनात्मकः ।
तत्रामर्शस्वभावोऽयं यः प्रकाशः प्रकाशते ॥ २६ ॥
स एव किन्न शास्त्रौघः किमन्यैर्युक्तिडम्बरैः ।
परवाग्देवताविद्धस्तत्रासौ केवलं भवेत् ॥ २७ ॥
न तु लौकिकमायीयवर्णपुञ्जविचित्रतः ।
उक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायामात्मसंस्थस्य भासनम् ॥ २८ ॥
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ।
स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ॥ २९ ॥
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि तुल्यो रत्नादिकैरिति ।
किं च यत्किञ्च नामात्र चिच्चमत्कारगोचरः ॥ ३० ॥
ह्लादनामादिविषयस्तदासौ भवति स्फुटः ।
तद्विमर्शान्तरालम्बसमुच्छलनयोगतः ॥ ३१ ॥
पश्चात्सुस्फुटतामेति तथा च गुरुरूचिवान् ।
यथा स्वसंविदा सिद्धं सुखादि व्यवतिष्ठते ॥ ३२ ॥
न हि व्यवस्थासमये वेद्यते तत्स्वसंविदा ।
तथावश्योपगन्तव्यः स्वसंवित्साधनादिति ? ॥ ३३ ॥
एवमत्रापि पश्चाद्यज्ज्ञानाद्युल्लासवर्त्मनि ।
सर्वाभेदमयी भूमिर्यावदामृश्यतां व्रजेत् ॥ ३४ ॥
तावत्तदुचितोदारविमर्शांशस्फुटत्वतः ।
तादृक्स एव शास्त्रत्वं प्राग्विसर्गः प्रपद्यते ॥ ३५ ॥
एतदेव तु युक्तं स्यात्तथा ह्यनुपधौ परे ।
शास्त्रार्थेऽपि समाचारलेशः कोऽपि विभाव्यते ॥ ३६ ॥

स नूनं स्फुटताधामभाविज्ञानादिशक्तिमान् ।
उपरागात्ततस्तत्तद्वैचित्र्यपरिबृंहितः ॥ ३७ ॥
यथा मुखस्य तद्व्यक्तिस्थानेऽप्सु मुकुरे मणौ ।
खड्गे चञ्चलसद्वृत्तसूक्ष्मदीर्घादिका स्थितिः ॥ ३८ ॥
तदित्थं परमे रूपे प्रोद्भूता ज्ञानसंपदः ।
अनवच्छिन्नहृदयबीजात्मत्रयसुन्दराः ॥ ३९ ॥
यदा तूच्छलदाकारस्वतरङ्गान्तरात्मकान् ।
विसिसृक्षति भावौघान्भैरवः शक्तिबृंहितः ॥ ४० ॥
तदा ता एव विज्ञानसंपदस्तदुपाधिजाम् ।
ईषत्क्रियासमाचारयन्त्रणां संश्रिता इव ॥ ४१ ॥
परितस्तत्तरङ्गौघसात्मतां समुपाश्रिते ।
तथापि जगदानन्दसुन्दरे बोधभैरवे ॥ ४२ ॥
भावनिर्भरतामात्रसंतृप्ते शक्तिशालिनि ।
पूर्णया निजशक्त्यैव न्यक्कृते शक्तिमत्पदे ॥ ४३ ॥
तादृगेव विमर्शात्मा ज्ञानधारा विजृम्भते ।
यस्यां भोगोपदेशेन कोऽपि ह्लादः प्रवर्तते ॥ ४४ ॥
यदीयसंविदाचारचर्याविस्रम्भभावितः ।
भोगव्रातोऽपि धन्यानां निःश्रेयसपदायते ॥ ४५ ॥
यत्रोच्यते स्वशक्त्यादिक्षोभसंरम्भनिर्भरा ।
देवस्य यागप्रियता विशेषान्मातृमध्यतः ॥ ४६ ॥
ऐश्वर्यशक्त्युद्रेकेण लब्धेश्वरपदाभिधः ।
देवो विज्ञानमहिमा प्रोद्भूतोऽयं प्रपञ्चितः ॥ ४७ ॥
अत्राप्यनन्तभावांशसंयोजनवियोजने ।
प्रादशाभेदसंधानादसंख्यत्वमुपाश्रिते ॥ ४८ ॥
तदुपाधिवशादेव संविज्ज्ञानपदोज्झिता ।
तायन्ते विविधाः शास्त्रक्रियाज्ञानविभूतयः ॥ ४९ ॥
मुख्यस्त्वेष प्रपञ्चोऽयं पञ्चात्मत्वेन चर्चितः ।
तथा च वक्ष्यते तत्त्वमभिन्नमपि पञ्चधा ॥ ५० ॥

सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनप्रेरकत्वतः ।
इच्छानिवृत्तेः स्वच्छत्वादित्याद्यैर्वाक्यसंचयैः ॥ ५१ ॥

नन्वेतावति सन्दर्भे देशकालकलाकृताः ।
भेदा न संभवन्त्येव बाढमोमिति वच्महे ॥ ५२ ॥

न ह्यत्र कालतत्त्वस्य नाममात्रं विभाव्यते ।
वैभव्यपि महाकाली शक्तिर्नात्र विजृम्भते ॥ ५३ ॥

तर्ह्यभिन्ने स्वसंपूर्णे तदा पश्चात्पुनर्यदा ।
परतश्चेति को न्वेष वाचोयुक्तिपरिग्रहः ॥ ५४ ॥

अत्र ब्रूमः सत्यमेव वस्तुतस्तु स्फुटात्मनि ।
जृम्भिते तत्त्वसर्गेऽपि कालेऽप्युन्मिषितात्मनि ॥ ५५ ॥

बोधस्य नैव सन्त्येताः पूर्वापरविकल्पनाः ।
कालो विशेषणत्वेन यस्माद्भवति भेदकः ॥ ५६ ॥

विशेषणं च तत्प्रोक्तं समशीर्षिकयैव यत् ।
भेदेन वेद्यतामेति यथा नीलं सरोरुहम् ॥ ५७ ॥

न च बोधस्य वेद्यत्वं कदाचिदुपपद्यते ।
वेद्यत्वं भासमानत्वं तत्प्रकाशप्रसादतः ॥ ५८ ॥

प्रकाशः स सबोधश्च स चेद्बोधान्तरस्थितेः ।
प्रकाशानियमान्नूनमनवस्था प्रवर्तते ॥ ५९ ॥

अत एव विमूढा ये बोधमप्रथमानकम् ।
अर्थप्रथात्मकं ब्रूयुः स्ववचोवञ्चितास्तु ते ॥ ६० ॥

तस्मात्कालो न बोधस्य भेदकत्वाय कल्पते ।
नापि वेद्यस्य कालोऽसौ भेदकीभवितुं क्षमः ॥ ६१ ॥

विश्वं हि बोधाभिन्नं तदतथात्वे स भासते ।
प्रकाशेन समाविष्टश्चित्रं भावः प्रकाशते ॥ ६२ ॥

विश्वप्रकाश एवं स्यात्सर्वस्यैव सदातनः ।
सति प्रकाशे बोधाख्ये स प्रकाशत्वमश्नुते ॥ ६३ ॥

अप्रकाशोऽपि भावश्चेत्प्रकाशात्मा स वेद्यते ।
अप्रकाशस्त्वसौ भाव इत्यत्र शरणं तमः ॥ ६४ ॥

यश्चाप्रकाशो भावात्मा प्रकाशात्मा स चेत्कृतः ।
नूनं स भावो नष्टः स्यात्स्वाप्रकाशत्वविच्युतेः ॥ ६५ ॥

नातद्रूपं प्रकाशं च कर्तुं विधिरपि क्षमः ।
ननु तावदिदंभावः प्रकाशे सति भासते ॥ ६६ ॥

अस्त्वेतदेव किंत्वित्थमप्रकाशः प्रकाशताम् ।
भावस्य चाप्रकाशत्वे प्रकाशीभाविते सति ॥ ६७ ॥

नैवं प्रकाशितो भाव इति वस्तुस्थितिर्भवेत् ।
तदलं व्यतिरिक्तेन प्रकाशेन शिवस्तथा ॥ ६८ ॥

तस्मात्प्रकाश एवासौ गीतो यः परमः शिवः ।
स एवाचिन्त्यमहिमा स्वातन्त्र्योद्दामघूर्णितः ॥ ६९ ॥

प्रकाशते तथा तैस्तैः स्वभावैरच्युतस्थितिः ।
नात्र सर्वत्र सर्वज्ञभावः कश्चन शङ्क्यते ॥ ७० ॥

अहं चैत्रो घटं वेद्मि न पटं वेद तं द्वयम् ।
नायं वेत्ति पटः सोऽहं जाने घटपटाविति ॥ ७१ ॥

वेदिष्यामि न वा पूर्वमजानन्नैव वा क्वचित् ।
क्रमेण वेद्मि युगपद्द्वाभ्यामुभयवर्जितम् ॥ ७२ ॥

सर्वं वेद्मि न किंचिच्च जाने नैवास्मि कश्चन ।
भावात्मा ननु नैवाहमहं सर्वं च सर्वदा ॥ ७३ ॥

सर्वमस्म्यहमेवैकः किं सर्वमितरद्भवेत् ।
इत्यादिरेक एवायं प्रकाशः प्रविजृम्भते ॥ ७४ ॥

नन्वेको यद्यसः कश्चित्प्रकाशो न तदा परः ।
कथं भवेदहो मूढः कथं व्युत्पाद्यतामयम् ॥ ७५ ॥

एकः प्रकाशः स्वातन्त्र्याच्चित्ररूपः प्रकाशते ।
वस्तुतश्च न चित्रोऽसौ नाचित्रो भेददूषणात् ॥ ७६ ॥

घटप्रकाशे वस्त्रस्य प्रकाशो यदि संभवेत् ।
नासौ घटप्रकाशः स्याद्द्विप्रकाशो ह्यसौ भवेत् ॥ ७७ ॥

सोऽपि चास्त्येव नो नास्ति तदिदं त्वत्प्रचोदितम् ।
घटात्मना प्रकाशोऽस्य माभूदित्यवतिष्ठते ॥ ७८ ॥

तच्चायुक्तं प्रकाशस्य बोधत्वात्स्वात्मजृम्भणम् ।
लक्षणं यदि तत्कोऽयं वृथा वाग्जालडम्बरः ॥ ७९ ॥
परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ।
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते ॥ ८० ॥
तस्मादर्कस्य सद्भावे सिद्धे कः खलु बालिशः ।
ब्रुयात्कथमयं स्वांशुशुभ्रिताशेषभूरिति ॥ ८१ ॥
तस्मात्सिद्धे प्रकाशेऽस्मिन्याः प्रकाशविकल्पनाः ।
तस्मात्ताः सर्वसंभुक्तयोषिच्चारित्रपालनाः ॥ ८२ ॥
असिद्धौ च प्रकाशस्य कोऽहं किं त्वं तमोऽपि किम् ।
न किंचिदपि वा किं स्यात्तूष्णीं स्यादपि वा कथम् ॥ ८३ ॥
तस्मात्प्रकाशतादात्म्यलब्धभैरवभागिनाम् ।
भावानामपि कालोऽयं न किंचित्कर्तुमर्हति ॥ ८४ ॥
हन्त तर्हि कथंकारं तदेत्यादिवचःक्रमः ।
श्रूयतामुक्तमप्येतत्पुनर्निर्भज्य भण्यते ॥ ८५ ॥
यः प्रकाशः स एवायं प्रतिभाति तथा तथा ।
नैव चान्यस्य कस्यापि स तु भात्येव केवलम् ॥ ८६ ॥
स एव परमोदारः सर्वस्यैवावभासकः ।
स्वतन्त्र इति तस्येच्छा शक्तिः स्वातन्त्र्यसंज्ञिता ॥ ८७ ॥
स च स्वात्मनि विश्रान्तस्तदन्याभावयोगतः ।
स्वात्मविश्रान्तिरेवैषा देवस्यानन्द उच्यते ॥ ८८ ॥
स्वातन्त्र्यमहिमा वास्य स्वरूपादपृथक्स्थितिः ।
स्वप्रकाशे निजे धाम्नि भासयेद्भावविभ्रमाम् ॥ ८९ ॥
भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते ।
यया विचित्रतत्त्वादिकलना प्रविभज्यते ॥ ९० ॥
भासनानवभाते च कथं नाम प्रकल्पते ।
तदस्यान्तःस्थितं भानं ज्ञानशक्तिरहं स्मृता ॥ ९१ ॥
एतावदस्य देवस्य यद्रूपं स्वात्ममात्रतः ।
स उन्मेष इति प्रोक्तः पञ्चशक्तिस्ततो विभुः ॥ ९२ ॥

त्रिशक्तिरेकशक्तिर्वा देवो वा केवलः स्थितः।
शक्तिरेवाथ देवी सा सा च शास्त्रे निरूप्यते ॥ ९३ ॥
वक्ष्यते च जगद्धातुः कथितेत्यादितः परम्।
सैका सत्यनेकत्वं वै गच्छतीति महेशिना ॥ ९४ ॥
स चायं निर्भरानन्दविश्रान्तिस्वात्मसुस्थितः।
सोदर्यैः शब्दसंदर्भैर्भाष्यते भैरवादिभिः ॥ ९५ ॥
सविधं दूरगं वापि यद्यप्यस्य न वस्तुतः।
शब्दजातं भवेत्किंचिदन्यदप्यथ वा प्रभोः ॥ ९६ ॥
तथा च भासयत्येव देव एष तथा तथा।
ततस्तदनुसारेण सर्वोऽयं कल्पनाक्रमः ॥ ९७ ॥
न च तत्कल्पनामात्रं तथात्वेऽप्यथ का क्षितिः।
तथा संकल्पतां देवो यद्वा कल्पयतां तथा ॥ ९८ ॥
एवं चैव प्रकाशात्मा सप्तत्रिंशात्मकात्परः।
वैचित्र्यभासनां कुर्वन्कालं भासयति प्रभुः ॥ ९९ ॥
वैचित्र्यभासनैवेयं कालशक्तिरुदाहृता।
ततोऽवभासमानैतत्कालशक्त्यनुरोधतः ॥ १०० ॥
आस्मकीनात्तदेत्यादिरुपरागः प्रवर्तते।
न चासौ तत्र नास्त्येव तत्र यन्नास्ति तत्कुतः ॥ १०१ ॥
अन्यत्र तन्यतां नाम तत्प्रकाशवशं हितम्।
नन्वेवमपरे तत्त्वजाले शुद्धेतरस्थितौ ॥ १०२ ॥
शुद्धाशुद्धपदे वापि विद्यादौ तत्त्वमण्डले।
शुद्धभैरवसद्भावादविशेषो भविष्यति ॥ १०३ ॥
नरीनृत्यामहे हन्त यत्नाद्व्याख्येयमेव नः।
आयुष्मतो यद्धृदये स्वयं विपरिवर्तते ॥ १०४ ॥
शुद्धाशुद्धविभेदो हि परमार्थकथासु नो।
स तु तत्कृत एवास्ते मूढानां धियि निश्चलः ॥ १०५ ॥
ननु शुद्धेतरत्वाख्यो यदि भेदो न वास्तवः।
व्याचिकीर्षितमेवैतच्छास्त्रं विवदते ततः ॥ १०६ ॥

अशुद्धत्वं हि तत्त्वानां दीक्षया शोधनं ततः।
इत्यादि बहुधा भेदप्रधानात्र यतः स्थितिः ॥ १०७ ॥

उच्यते नाद्वयेऽमुष्मिन्द्वैतं नास्त्येव सर्वथा।
उक्तं हि भेदवन्ध्येऽपि विभौ भेदावभासनम् ॥ १०८ ॥

तदेव खलु संसारो मायाविद्यादिभिः पदैः।
बन्ध इत्युच्यते तत्र रूढाः संसारिणो मताः ॥ १०९ ॥

तच्चिन्तानुसृतैरेषां शुद्धाशुद्धादिनिश्चयः।
किं च शास्त्रमिदं सम्यग्भगवद्योगदेशकम् ॥ ११० ॥

भगवद्योगमद्वैतं निर्द्वन्द्वं च प्रचक्षते।
तस्योपदेश इत्थं स्याद्यदि यावद्विभेदवत् ॥ १११ ॥

संभाव्यते तन्निर्भक्त्या निर्भज्यैव निरूप्यते।
अद्वैतभैरवविभौ यत्प्रवेशोपवेशयोः ॥ ११२ ॥

आभ्यासिकी स्थितिर्नास्ति तौ हि भेदैकजीवितौ।
अतः संभाव्यनिखिलद्वैतशङ्काव्यपोहने ॥ ११३ ॥

गुरूणां च शिशूनां च यत्नः सर्वैर्विजृम्भते।
अतो द्वैतमिहाशङ्क्याशङ्क्य सर्वं प्रतन्यते ॥ ११४ ॥

तद्यावद्गति संभाव्य न तु तत्राप्युदास्यते।
तथा हि यदि नासृष्टं द्वैतं तर्ह्येकमेव सत् ॥ ११५ ॥

चिद्ब्रह्म तदलं तत्त्वसंख्याकल्पननिर्णयैः।
पञ्चविंशतिता कस्मात्तत्त्वानां तन्निरूप्यते ॥ ११६ ॥

तस्माद्द्वैतस्य भेदात्मस्थितेर्यावद्गतिग्रहम्।
कृत्वा यस्तत्प्रतिक्षेपस्तेन निःशङ्कता भवेत् ॥ ११७ ॥

एतदेव च विज्ञाने निर्भिद्यैवोपदेशनम्।
यथासंभवितद्वज्रपक्षाणां यद्विदारणम् ॥ ११८ ॥

तथा हि श्रीमता स्तोत्रे भट्टनारायणेन तत्।
'नमस्ते भवसंभ्रान्तभ्रान्तिमुद्भाव्य भिन्दते ॥ ११९ ॥

ज्ञानानन्दं च निर्द्वन्द्वं देव वृत्वा विवृण्वते।'
निर्द्वन्द्वमिति निर्द्वैतं प्रकटीक्रियते पदम् ॥ १२० ॥

उद्भाव्यन्ते भ्रमाश्चेति चकारोऽत्राद्भुतावहः।
इह चाद्वैतमेवेति पुरतः प्रतनिष्यते ॥ १२१ ॥

अध्वशुद्धयादिकं द्वैतेऽनुपपत्तीति वक्ष्यते।
अभेदेन विना नैतन्ननु भेदं विनापि किम् ॥ १२२ ॥

सत्यं किंतु द्वये तत्त्वे भेदोऽपि न न युज्यते।
इदं हि तत्पराद्वैतं भेदत्यागग्रहौ न यत् ॥ १२३ ॥

भेदे तु विश्वभावानां स्वस्वभावव्यवस्थितेः।
अभेद इति शब्दोऽयं मन्ये भेदयते रसान् ॥ १२४ ॥

तदलं प्रकृतं निरूप्यते
　　परमेशः किल भेदकल्पनाम्।
प्रकटीकुरुते यथा तथा
　　ननु कालोऽपि विजृम्भते तथा ॥ १२५ ॥

न तथापि च याति भिन्नतां
　　परमार्थेन कदाचिदेव सः।
युगपत्स हि संविदात्मकः
　　स्वातन्त्र्याद्बहुधा प्रकाशते ॥ १२६ ॥

क्रमकालविवर्जनाशयं
　　युगपच्छब्दमिमं प्रयुञ्जते।
नन्वित्थमेकघनभावविमर्शसारे
　　संवेदने यदहमेष करोमि चित्रः।
जानामि वा तदपरेऽपि न मैत्रचैत्र-
　　प्राया विदध्युरथवापि कथं न विद्युः ॥ १२७ ॥

अहो मायाग्रन्थिर्निबिडतम एषोऽत्र भवता-
　मिदं हि प्रब्रूमः स्वपरमिह नास्त्येकमभिदम्।
अहं वेद्मीत्येषा घटतनुविशेषप्रकटता
प्रथाश्चित्राकाराः परमहसि भान्तीति कथितम् ॥ १२८ ॥

तस्माद्घटं वेद्म्यहमित्यमुत्र
　　भेदो न कश्चिन्ननु मे घटोऽयम्।

भातीति भेदप्रतिभानमस्ति
नैतन्न तस्यैव शिवस्तथायम् ॥ १२९ ॥

अत एव द्वैपायनमुख्यास्तेषु स्वशास्त्रदेशेषु ।
ममकारमेव मृत्युं खण्डनदायित्वतः प्राहुः ॥ १३० ॥

तदेवं कालकलनोपाधिजातोपरागजाः ।
तदेत्यादि प्रतायन्ते परतत्त्वेऽपि संविदः ॥ १३१ ॥

तत्र पूर्णैकरूपत्वात्सर्वं सर्वत्र चापि तत् ।
अन्यथा खण्डनायोगान्न पूर्णा पूर्णता भवेत् ॥ १३२ ॥

ततः पूर्णतया सर्वसहभैरवधामनि ।
पञ्चात्मकोऽयं शास्त्रार्थः शांभवः शक्त्यणुस्थितिम् ॥ १३३ ॥

न्यक्कृत्यैषा परा देवी स्वात्मन्युद्रेच्य वर्तते ।
इत्थं स विसिसृक्षुः सन् भावान्विस्रष्टृतापदात् ॥ १३४ ॥

पूर्वमुच्छलितानन्दघनामभजत स्थितिम् ।
विस्रष्टृतापदे त्वेष विसर्गावेशभागपि ॥ १३५ ॥

रिक्तीभविष्यन्नानन्दघनया पूर्णया चिता ।
तावदानन्दशक्त्यंशविसर्गावेशनिर्भरः ॥ १३६ ॥

वर्तमानस्वशक्त्योघपूर्णश्चाभूद्भविष्यति ।
रिक्तशक्तिरिति ह्यात्मचित्रसंवेदनात्मकः ॥ १३७ ॥

तदासौ देवदेवः स्याद्विस्रष्टरि पदे स्फुटम् ।
ननु किं वर्तमानांशे संस्तो भूतभविष्यती ॥ १३८ ॥

किं नाम भवता ज्ञातं ते स्वतन्त्रेऽपि केचन ।
वर्तमानावधेर्भूतं भविष्यच्च विभज्यते ॥ १३९ ॥

यच्च यत्र न विश्रान्तं तद्विभज्येत वै कुतः ।
कथं चावधिभावः स्याद्वर्तमानस्य ते प्रति ॥ १४० ॥

तयोरवधिमत्त्वं वा तत्प्रत्यपि कथं भवेत् ।
विश्वस्य विश्वमवधिस्तद्द्वा जायते न किम् ॥ १४१ ॥

तस्माद्भूतं भविष्यच्च वर्तमानाख्यसंविदि ।
रूढमेवेति तत्रैव यदि विश्रान्तिमावहेत् ॥ १४२ ॥

यदि ह्यत्रैव निखिलकल्पनारश्मिमण्डलम् ।
अविस्फार्य क्षणं तिष्ठेत् संनिरुद्धनिजस्थितिः ॥ १४३ ॥
तन्निजामृतविस्फारचमत्कारैकचर्वणाम् ।
लभते परमानन्दसुधासन्दोहवाहिनीम् ॥ १४४ ॥
तथा हि सूर्यरश्म्योघपूर्णः स्याच्चन्द्रमा यदा ।
तदा सूर्यकरान्भूयो यावन्न विसिसृक्षति ॥ १४५ ॥
तावत्स्वमण्डलाभोगे क्षणं विश्रान्तिसुस्थितः ।
अन्तःस्थविश्वदेवांशतर्पणापात्रमुच्यते ॥ १४६ ॥
एवं भावप्रकाशार्कमरीचिनिचयाञ्चिते ।
स्वबोधचन्द्रमहसि वर्तमाने हृदन्तरे ॥ १४७ ॥
विश्रान्तोऽन्तःस्थितोदारचित्सुधासारसुन्दरे ।
अन्तःस्थस्वामृतापूरो वम्यते न बहिर्यतः ॥ १४८ ॥
तत एवान्तरेवासौ घूर्णमानः समुच्छलन् ।
स्वान्तःस्थदेवताचक्रतर्पणाहंविदात्मकः ॥ १४९ ॥
जायते यावदुद्वाम्येत्तावत्स्वकरणक्रमः ।
निरुद्धे रश्मिपटले विभवाभावयोगतः ॥ १५० ॥
न भूतं न भविष्यच्च वर्तमानाद्विभज्यते ।
अविभागस्तयोर्यावत्तावत्का वर्तमानता ॥ १५१ ॥
भूतभाविस्वभावाभ्यां सा हि याति विभागिताम् ।
तदस्मिन्संविदवधौ विश्रम्य त्रुटिमात्रकम् ॥ १५२ ॥
कालग्रासपरो योगी जायते खेचरः क्षणात् ।
उक्तं हि भावाभासो यः कालः स कलनात्मकः ॥ १५३ ॥
स्वसंविद्रश्मिसंस्फारो भावाभावः स नापरः ।
तस्मात्स्वरश्मिसंरोधद्वाररुद्धाध्वमण्डलः ॥ १५४ ॥
कालग्रासैकरसिको जायते खेचरः स्वयम् ।
तदुक्तं परमेशेन तन्त्रे श्रीडामराभिधे ॥ १५५ ॥
निरुध्य रश्मिचक्रं स्वं पीत्वामृतमनुत्तमम् ।
कालोभयापरिच्छिन्ने वर्तमाने सुखी भवेत् ॥ १५६ ॥

रोधोऽपि नाम नैतस्मिन्संकोचपरिवर्जिते ।
तदभावान्न विस्फारो ग्रासतृप्ती तथात्र के ॥ १५७ ॥

किं तूक्तनीत्या संरोधस्फारग्रासादि भासते ।
न तथाभासनाच्चान्यवस्तु विश्वत्र किंचन ॥ १५८ ॥

इत्यलं खेचरीचक्रगोष्ठ्यालापेन भूयसा ।
को वाभिनवगुप्तेऽस्मिन्योगः संवेदनक्रमे ॥ १५९ ॥

प्रकृतं ब्रूमहे देवीविसृष्टाश्चित्रसंविदः ।
यावत्तावत्तदूर्ध्वोर्ध्वं स्रोतो यद्भेदवर्जितम् ॥ १६० ॥

सौरभर्गशिखादीनि ततः शास्त्राणि तेनिरे ।
उक्तं भर्गशिखायां च देवेन परमेष्ठिना ॥ १६१ ॥

ऊर्ध्वस्रोतोद्भवं ज्ञानमिदं तत्परमं प्रिये ।
परमध्वनिनोर्ध्वोर्ध्वं संविद्रूपाभिधायिना ॥ १६२ ॥

ईशानवक्त्रनिर्यातात्सिद्धान्ताद्भेदमादिशत् ।
अत्रापि पूर्वभेदांशव्यामिश्रीभावचित्रिताः ॥ १६३ ॥

विज्ञानसंपदस्तांस्तांस्तन्वते शास्त्रविभ्रमान् ।
इह यावत्तु मुख्येयं षडात्मा शास्त्रसन्ततिः ॥ १६४ ॥

एतत्पूर्वार्धभागीनि त्रिकशास्त्राणि यानि तु ।
षडर्धसंज्ञया तानि गुरुभिर्भाषितान्यलम् ॥ १६५ ॥

न तु गूढरहस्यत्वादेवैष वचनक्रमः ।
एवं हि द्वादशार्धार्धमित्याद्यपि न किं भवेत् ॥ १६६ ॥

अत्र शक्तित्रयं मुख्यं संपूर्णस्थिति कल्पते ।
अनन्योन्योपरोधेन पूर्णं पूर्णचिदात्मकम् ॥ १६७ ॥

ततः परं तु त्रितयं कस्यांचिद्गुणताजुषि ।
अन्यस्यां गुणताभाजि यामलं परिभाष्यते ॥ १६८ ॥

पश्चाद्विसृष्टेऽर्थौघे तद्वचित्र्योपाधियोगतः ।
पृथग्भाववियोगासु स्वात्मशक्तिषु पञ्चसु ॥ १६९ ॥

चित्स्पन्देच्छाविदाकर्मरूपासु स्वौचितीवशात् ।
पञ्चब्रह्माङ्गसुभगात्स्फुरद्भावांशबोधजम् ॥ १७० ॥

रूपं शास्त्रात्मततां प्राप्तं पञ्चधैव विजृम्भते ।
तथा हि प्रागनन्तान्तस्थितभावौघजृम्भणम् ॥ १७१ ॥
यावत्करोति भगवांस्तावदीशमुखस्थितिः ।
अन्तःस्थाया अभिन्नायाः क्रियाशक्तेर्विजृम्भणे ॥ १७२ ॥
क्रमादुन्मिषिते तावानेष स्फारः प्रतायते ।
क्रियाशक्तेः स्फुटः स्फारः मायात्वं प्रतिपद्यते ॥ १७३ ॥
मायातत्त्वस्वरूपे हि शिवेशानीति वक्ष्यते ।
शुद्धाशुद्धेतराशुद्धविश्वनिर्माणकारिणः ॥ १७४ ॥
पञ्चमन्त्रतनोः शंभोर्निर्मेयाशुद्धसंगतिः ।
अस्त्येव पूर्वकोटयां हि सर्वमेव व्यवस्थितम् ॥ १७५ ॥
तथाहि स्वगृहात्क्वापि यियासोः प्रथमक्षणे ।
यावत्किंचन कर्तव्यं यच्च तन्मध्यवृत्ति तु ॥ १७६ ॥
तुटिपातेऽपि सर्वज्ञसर्वकर्तृत्वलब्धृता ।
तत एव विशेषांशनिष्कम्पकुशलात्मनाम् ॥ १७७ ॥
तथा हि जात्यखड्गाग्रधारासंस्पर्शसंमिता ।
स्फुरत्त्वसमकालं धीर्विशेषांशान्प्रकर्षति ॥ १७८ ॥
रत्नतत्त्वस्फुटप्रज्ञो विद्युत्तत्कालदर्शितान् ।
तांस्तान्विशेषांश्चिनुते रत्नानां भूयसामपि ॥ १७९ ॥
अनेकस्वरसंभारस्पर्शलाघवयोजिते ।
वीणायामेकविस्तारे वैचित्र्यं वेत्ति तन्मयः ॥ १८० ॥
निबिडाभ्यासधाराग्रविश्रान्तश्रवणेन्द्रियः ।
वेत्त्येव तत्स्वरांशान्तःश्रुन्यूनाधिकतामपि ॥ १८१ ॥
आस्तामभेदवादेऽस्मिन्नयत्नेनैव सिद्धयति ।
एतद्यत्र विभातेऽपि भेदे वास्तवमद्वयम् ॥ १८२ ॥
भेदैकजीविते शास्त्रे यावदेतत्स्थितं स्फुटम् ।
तथा हि पतञ्जलिना पादे वैभूतनामनि ॥ १८३ ॥
न्यरूप्यत प्रातिभाद्वा सर्वमत्र मयापि च ।
प्रातिभे प्रथमोन्मेषे संविद्रूपिण्यखण्डिते ॥ १८४ ॥

स्थितः सर्वस्फुरत्तात्मा सर्वसिद्धिफलोदयः ।
एवं जगति निर्मेये निर्मित्सास्वीकृतं बलात् ॥ १८५ ॥

अशुद्धमपि तद्रूपनानावैचित्र्ययोग्यपि ।
सामान्याकाररूपेण दलं भेदात्मसुन्दरम् ॥ १८६ ॥

आस्ते प्रोन्मिषितं सैषा भेदाभेदात्मिका स्थितिः ।
अत एव हि सादाख्ये ज्ञानशक्तिस्वरूपिणि ॥ १८७ ॥

अशुद्धलेशकालुष्यात्परापरतया स्थितिः ।
तेनेशभुक्तादेतस्मादप्यूर्ध्वपदभागिनः ॥ १८८ ॥

मायाप्रकटनौत्सुक्यात्तत्संस्कारजुषस्तथा ।
बहुक्रियासमारम्भमयं विविधमन्त्रणम् ॥ १८९ ॥

प्रादुर्भूतमहाज्ञानसन्ततेश्च शिवप्रदम् ।
स हि तत्रापरो भावः परभावनिमीलितः ॥ १९० ॥

न तु रूढिमुपागच्छेदशुद्धाध्वविधाविव ।
तेन वैष्णवबौद्धादिशासनान्तरनिष्ठिताः ॥ १९१ ॥

यथा सम्यङ् न मुच्यन्ते न तथा शैवसंस्कृताः ।
अतिमार्गक्रमकुलत्रिकस्रोतोन्तरादिषु ॥ १९२ ॥

परमेशानशास्त्रे तु ये सम्यग्दीक्षिता नराः ।
तेषां नैवापवर्गस्य लाभे भेदोऽस्ति कश्चन ॥ १९३ ॥

न चैतदतिरिक्तोऽपि मोक्षोपायोऽस्ति कश्चन ।
केवलं क्वाप्यनायासा जीवन्मुक्तिक्रमेण च ॥ १९४ ॥

शीघ्रमेव परा सिद्धिर्यथास्मद्दर्शनेष्विति ।
क्वापि तत्त्वावलीयोगपरिपाटीक्रमाच्चिरात् ॥ १९५ ॥

तैस्तैः क्रियाकलापैश्च लभ्यते परमं फलम् ।
अत एवास्ति संहारदृशां कौलिक्यपीह दृक् ॥ १९६ ॥

यथोक्तं कालपादादौ दीक्षयेच्छ्वपचानिति ।
चिदुन्मेषादिकाः पञ्च याः पूर्वं प्रागभेदतः ॥ १९७ ॥

प्रोक्ताः परस्मिंश्चिन्नाथे भैरवे समवायतः ।
ता एव भावोपाध्यंशलब्धभेदविभाविताः ॥ १९८ ॥

भेदांशमेव पुष्णन्ति प्रागभेदजुषौऽप्यलम् ।
तथा ह्योदनसंभोगो यो देहस्योपचायकः ॥ १९९ ॥
कफसंचयपातेन स देहस्यापचायकः ।
ननु देवस्य विश्वात्मभेदेऽपि स्वापरिच्युतेः ॥ २०० ॥
विकारिष्वेव योग्यानामुपाधीनां गतिः कुतः ।
तदुपाधिवशाद्भेदो भैरवे भावसंभवात् ॥ २०१ ॥
इति नास्मन्मनोभूमामुपारोढुमिहार्हति ।
तूष्णीं विकारिणो भावाः सन्तीति ह्यतिसाहसम् ॥ २०२ ॥
देवः स एव विश्वात्मा तथारूपेण भासते ।
अनुपाधेरभिन्नस्य भिन्नं नोपाधिभासनम् ॥ २०३ ॥
नन्वित्थं तदसत्यं स्यात्कथं सत्यं तदेव हि ।
तथावभासनादन्यत्क्व किं सत्यं निरूप्यताम् ॥ २०४ ॥
नन्वेवं स्वप्नसंसारः किं सत्यं किंत्वसौ किल ।
अभीष्टार्थक्रियावन्ध्योऽसत्यो व्यवहृतः परम् ॥ २०५ ॥
एतच्चाग्रे प्रपञ्चेन युक्तियुक्तं निरूप्यते ।
तस्मादुन्मेषशक्तिर्या पूर्वमासीदभेदिनी ॥ २०६ ॥
भावोन्मेषस्वरूपासौ याता तत्पुरुषस्थितिम् ।
यदभिन्नं तदग्राह्यं यच्चाग्राहकमीश्वरम् ॥ २०७ ॥
अधुना तत्स्थितं ग्राह्यं भेदात्तद्ग्राहकं भिदः ।
पुरुषाख्यं ततः प्रोक्तं सृष्टेः प्रारम्भयोगतः ॥ २०८ ॥
सुस्फुटप्रत्यभिज्ञानान्मुख्यं वक्त्रं च भण्यते ।
अत एवात्र विसरभावस्थितिविघातकम् ॥ २०९ ॥
नानारुग्ग्रहसंघातविषादि परिचर्च्यते ।
अनेकयुक्तिदलितव्याधिसंशान्तसुस्थिताः ॥ २१० ॥
अत्र सुस्फुटतां यान्ति भावा भेदैकवृत्तयः ।
भावत्वमेव यत्सर्वं तत्त्विदं पूर्वजं मुखम् ॥ २११ ॥
सर्वतश्च गुणोत्कर्षादीशानस्योर्ध्ववक्त्रता ।
दिक्कालकलनाशून्ये न तु दिग्भेदकल्पनाः ॥ २१२ ॥

यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्ट इति चोध्वों भविष्यति ।
ततो भावान्यदा सम्यगिच्छतीच्छाविभूतितः ॥ २१३ ॥

तदेच्छायां समारूढाः सा चेच्छा चैव निर्मला ।
येन तन्मयतायोगात्संविदैक्यं स्पृशन्त्यमी ॥ २१४ ॥

किंतूपाध्युपरक्तेच्छासंछादनतिरोहिताः ।
ते तदानीं स्थिता भावा देवस्तु स्वैषणास्थितः ॥ २१५ ॥

पराचीनितसंवित्तिवक्त्रो न च परां स्थितिम् ।
पूर्णामध्युषितस्तेन सुषुप्त इव भासते ॥ २१६ ॥

असुप्तश्च प्रबुद्धत्वात्तस्य स्वापो निमीलनम् ।
नह्यस्ति परमार्थेन भैरवानन्दसंविदः ॥ २१७ ॥

तस्मिन्परप्रकाशे हि निमीलत्त्वमुपागते ।
प्रलयात्तन्निमीलत्त्वमितिर्वा कुत्र भासताम् ॥ २१८ ॥

अनाभातं च नो वस्तु व्योमसद्मगवाक्षवत् ।
सोऽपि वा कल्पिताकारश्चित्प्रकाशे प्रकाशते ॥ २१९ ॥

तदमीलित एवायं निमीलन्निव तिष्ठति ।
प्रभूणामविकल्प्या हि शक्तिर्दर्घटकारिणाम् ॥ २२० ॥

इदं सुखेन घटते दुःखेन घटते त्विदम् ।
इत्याभासनवैचित्र्ये स्वतन्त्रो हि स एव नः ॥ २२१ ॥

तदेव तस्य स्वातन्त्र्यं शक्तिर्नियतिनामिका ।
यया रुद्धः पशुर्जातु स्वातन्त्र्यं नैव विन्दति ॥ २२२ ॥

तदपेक्षाबलात्प्रोक्ता पत्यौ दुर्घटकारिता ।
नहि विश्वात्मनः किंचित्सुभटं वाथ दुर्घटम् ॥ २२३ ॥

किं मुहुर्मुहुरेतेन सकृन्ननु निरूपितम् ।
हन्ताविस्मृतिशीलं त्वां प्रत्येतत्स्यादपार्थकम् ॥ २२४ ॥

एकमुद्दिश्य किंत्वेतत्संरम्भो न विराजते ।
किं ह्येकाङ्कुरसंपत्त्यै प्रावृषेण्याः पयोमुचः ॥ २२५ ॥

मर्मस्थानमिदं चात्र व्युत्पाद्यो हि जनः स च ।
व्याप्तो हृद्भुवि कर्मौघकृष्टायां सौकुमार्यतः ॥ २२६ ॥

मायाबीजोत्थितानन्तविकल्पाङ्कुरकन्दलैः ।
भेदाभिमानजनितवाचनौचित्यसेवितैः ॥ २२७ ॥

यावद्विद्यामहादावज्वालयैषा पुनः पुनः ।
नालब्धा तावदस्यैतद्द्वैतं रोहेत्पुनः पुनः ॥ २२८ ॥

तीक्ष्णयत्नकुठारौघैः सद्विद्यावह्निदीपितैः ।
निर्भिन्नो देहविटपी पुनर्नैव प्ररोहति ॥ २२९ ॥

एवं देवे सुषुप्तांशमध्यासीनाः स्थिता अपि ।
असद्देशीयतां यान्ति भावाः श्वभ्रकपित्थवत् ॥ २३० ॥

अत्र तादृशमेवं स्वं ज्ञानं वैराग्यनिर्भरम् ।
निरुपाख्यं निरालम्बं व्यजृम्भत विरागतः ॥ २३१ ॥

कपालमालाभरणाः श्मशानपदवासिनः ।
अस्मात्पराङ्मुखीभूता भूतसंघातगोचरात् ॥ २३२ ॥

भोग्यं जुगुप्सावधि सर्वमेव
भोक्ता ह्यहं कः किल देह एषः ।
चर्मास्थिमात्रं न च सारमत्र
लेशांशभागेऽपि कदाचिदस्ति ॥ २३३ ॥

इत्थमभ्यस्यमानास्ते परां वैराग्यसंपदम् ।
प्रतिक्षणमुपारुह्य निमीलन्ति तदाहतम् (?) ॥ २३४ ॥

किमेतदिति धावन्ति दुःखेऽपीन्द्रियवृत्तयः ।
एतदेवमिति प्रायो विरज्यन्ते सुखादपि ॥ २३५ ॥

दृष्टानुश्रविकार्थौघवैतृष्ण्ये वशताधियः ।
तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमित्यपि ॥ २३६ ॥

नन्वकाण्डेऽपि पृच्छामः किंचिद्यदि न कुप्यते ।
किमकाण्डभेदकाण्डभेदकाण्डघटावधौ (?) ॥ २३७ ॥

तर्हि संविदियं शुद्धा स्वभावादेव चेत्कथम् ।
अशुचिभ्योऽपि भोगेभ्यो रसात्स्पृहयतेतमाम् ॥ २३८ ॥

नन्वविस्मृतिशीलत्वाभिमानः क्वाधुना गतः ।
अलं वा बुद्ध्युपालब्धैरुक्तमप्येतदुच्यते ॥ २३९ ॥

स्वभावादेव संवित्तिः प्रकाशपरमार्थिका ।
विश्वावभासयोगेन भातीति हि विपश्चितम् ॥ २४० ॥

अतश्च संविदो देव्या विश्वस्मिन्भावमण्डले ।
स्वात्मन्येवोच्छलत्त्वं किं खण्डनादापि जायते ॥ २४१ ॥

यदापि परमेशानशक्त्या भेदोऽवभास्यते ।
तदापि संविद्भावेषु धावतीति विविच्यते ॥ २४२ ॥

यथा लोष्ठह्लदज्वालाश्वासकुम्भवियत्स्थितिः ।
धराम्बुधिमहातेजः समीरानन्तखात्मताम् ॥ २४३ ॥

यात्येव मितिरूपेयं संवित्स्वोच्छलितक्रमात् ।
संविद्रूपसजातीयान्भावानेवानुधावति ॥ २४४ ॥

न्यरूप्यत तथा चैतत्केनापि परमेशिना ।
निम्नं तडागपानीयं कः प्रवर्तयितुं क्षमः ॥ २४५ ॥

परिपूर्णे पुनस्तस्मिन्प्रवाहाः सर्वतोमुखाः ।
ननु किं कांश्चिदेवेत्थं सैवा स्वनियतेर्बलात् ॥ २४६ ॥

इत्थं धावति तच्चास्या रागतत्त्वात्मकं वपुः ।
तत्रापि च तथा रागाभास एव स धार्यताम् ॥ २४७ ॥

चिदात्मनि तु रागस्तु कोऽप्यन्यारूषणात्मकः ।
नन्वित्थं चेत्कथं नाम सा कुत्रापि विरज्यते ॥ २४८ ॥

हन्त प्रकृति एवायं वादः संगतिमागतः ।
यदा हि चितिरेवैषा सर्वथा संकुचत्स्थितिः ॥ २४९ ॥

क्रमेण भोग्योपायेभ्यो भोग्येभ्यो देहतो भुजः ।
भोगाद्भोक्तुस्तथा शून्यमहाप्रलयभागिव ॥ २५० ॥

जायते रुद्ररूपैषा दशा सांहारिकी यतः ।
सद्योजातश्च यद्रुद्रः पुरुषश्चेश्वरात्मकः ॥ २५१ ॥

श्रीमान्सदाशिवो देव ईशानश्चेति गीयते ।
विष्णुर्वामः कजोऽघोर इति चैतद्भविष्यति ॥ २५२ ॥

अन्तःस्थसर्वशक्तित्वेनैकैकस्यापि बृंहणात् ।
ब्रह्माण्येतानि कथ्यन्ते बृहत्वाद्विश्वबृंहणात् ॥ २५३ ॥

तदन्यशक्त्युद्रेकांशे ह्यत एव विवक्षिते।
प्रत्येकमस्ति ब्रह्मादिहेतुपञ्चकयोगिता ॥ २५४ ॥

सैव शास्त्रेषु भेदेन तेषु तेषु प्रतन्यते।
अतश्च सद्योजातेऽस्मिन्मुख्या रौद्रदशा स्थिता ॥ २५५ ॥

सा च सङ्कोचरूपापि चिद्विकासे भविष्यति।
यल्लीनौ ब्रह्मविष्ण्वंशौ तेनाधः कुरुते बलात् ॥ २५६ ॥

वस्त्वभावमयीत्यादिदशा रुद्राधिदैवता।
भिन्नप्रमेयेति श्रीमदुत्पलेन न्यरूप्यत ॥ २५७ ॥

जातोऽपि भेदतन्मात्रे संकोचं यदुपागतः।
ततो व्यतिनिमीलेते भोक्तृभोग्याविह स्फुटम् ॥ २५८ ॥

अजातमिव तद्विश्वमत्र सद्योऽवभासते।
सद्योजातपदं तेन शून्यसंवेदनात्मकम् ॥ २५९ ॥

ततः शून्यपदस्यान्तर्यावत्स च विविक्षति।
देवस्तावत्स्वयं बोधे विश्वं प्रोच्छलति स्थितम् ॥ २६० ॥

जानाति सेयं नाथस्य ज्ञानशक्तिर्विकासिनी।
तयोर्विकासिचिद्धाम्नि लीनत्वमुपपादितम् ॥ २६१ ॥

संविदः शून्यरूपाया विकासो विश्वमेव तत्।
तथा हि घनसौषुप्तविश्रान्तिवशनिर्भरः ॥ २६२ ॥

तांस्तान्गृहापणाद्यंशान्वेत्ति स्वप्नपदाभिधान्।
अत एव न सा सृष्टिः स्थितिरेव तु सा तथा ॥ २६३ ॥

पूर्वसृष्टेषु भावेषु तद्धि विज्ञानमात्रकम्।
तथा च जाग्रतो रूपात्स्वप्नो भेदेन जायते ॥ २६४ ॥

किंतु जाग्रत्पदादीनां प्रत्येकं बहुभेदता।
निर्णेष्यते ततो युक्तं सृष्टिरूपेण भासनम् ॥ २६५ ॥

अतो निजविबोधेन तान्भावान्व्याप्नुवन्विभुः।
एतैस्त्याजयते तां स्वामौदासीन्यदशां विभुः ॥ २६६ ॥

ज्ञानशक्तेरियं जृम्भा तज्ज्ञानस्थितिभाविनः।
भावाः प्रयान्ति पूर्णत्वं विकासिनिजतेजसः ॥ २६७ ॥

परमः खलु सङ्कोचः सद्योजातपदे भवेत् ।
यदेषां स्वस्वरूपस्य निष्ठा नैव स्म जायते ॥ २६८ ॥

विना संविदुपारोहं संधासंधा जडोऽजडः ।
अनीलं नीलमित्यादिव्यवस्था कल्पतां कथम् ॥ २६९ ॥

यदुवाचोत्पलगुरुर्यथा सदसतां तथा ।
जडाजडानां न स्वात्मविशेष इति निश्चितम् ॥ २७० ॥

तस्माद्बोधभरोल्लासविसृष्टस्वपरस्थितिः ।
चिदनुप्राणानां विश्वग्वमन्नानन्दसुन्दराम् ॥ २७१ ॥

चिदेकवपुषा विश्वं स्वचिकीर्षश्चिदात्मनि ।
स्वबोधशक्तिवमनात्स देवो वाम उच्यते ॥ २७२ ॥

स्वबोधशक्त्युद्रेकेण यद्यप्येष प्रयच्छति ।
भावानां स्ववपुस्तादृक्तथापि परमार्थतः ॥ २७३ ॥

स्वीकर्तुमिच्छन्संहारमेषां कल्पयते भिदः ।
अतो भेदाव्यवस्थायां वामोऽसौ परमेश्वरः ॥ २७४ ॥

अत्र सौभाग्यनिःष्यन्दि तादृग्ज्ञानं प्रतायते ।
सौभाग्यं सोच्यते तेषां भिन्नानां स्वीक्रियैव या ॥ २७५ ॥

भावानां च विचित्राणां भोगाङ्गानां स्वशक्तितः ।
स्वकौतुककलालोकादुच्छलन्त्येव या चितिः ॥ २७६ ॥

सैव स्वभावरागेण विश्वं रञ्जयते यतः ।
व्यक्तो हि रञ्जयेद्विश्वं व्यक्तिश्चास्य स्वरूपतः ॥ २७७ ॥

यैव प्रोच्छलितावस्था स्वीकारेच्छाभरोदयः ।
तद्रश्मिसारसर्वस्वे क्षणं तिष्ठत्यनन्यधीः ॥ २७८ ॥

किं नाकर्षति किं नैव न भावयति योगवित् ।
तत एवोच्यते शास्त्रे नारक्तो रञ्जयेदिति ॥ २७९ ॥

तथा

कामस्थं काममध्यस्थं कामांकुशपुटीकृतम् ।
कामेन साधयेत्कामान्कामं कामेषु योजयेत् ॥ २८० ॥

कामं स्वीकर्तुमिच्छैव तदाच्छादनयोगतः।
विश्वं साधयते कामी कामतत्त्वमिदं यतः ॥ २८१ ॥
तथा हि परमे स्वात्मन्यध्यास्य स्थैर्यमञ्जसा।
तदुच्छलितसंबोधकलासंछादनक्रमात् ॥ २८२ ॥

विश्वं कामांकुशधीनं किंकरत्वेन भासते।
अध्यात्मसिद्धया युक्त्या त्वनयैव निजोदये ॥ २८३ ॥
प्राणपुर्यष्टकं देहं व्याप्य विश्वं प्रकर्षति।
तत्त्वस्य कामतत्त्वस्य प्रकटीक्रियया यतः ॥ २८४ ॥

सिद्धचक्रेष्विदं गोप्यं किं वा न प्रकटीकृतम्।
शून्यानन्दात्प्रसृत्यैव बोधः प्रोच्छलितात्मकः ॥ २८५ ॥
वर्तमानो निजाः शक्तीर्विकास्यैव प्रवर्तते।
यत्रास्य प्रविविक्षास्ति यतश्च प्रावृतद्विभुः ॥ २८६ ॥

सर्वाः शक्तीरसौ भास्तास्स्वात्मन्युद्रेच्य वर्तते।
ततश्चिात्मको देवो न्यग्भूत इव भासते ॥ २८७ ॥
उद्भूतास्तु विभान्त्येताः प्रोन्मेषेच्छाविदिक्रियाः।
अतश्चतुष्कयुक्तोऽसौ यद्यपि प्रतिभासते ॥ २८८ ॥

तथापि शक्तिगणना वस्तुतोऽस्य भवेत्कुतः।
अत्रैव भावभेदांशनिर्मूलनकला यतः ॥ २८९ ॥
स्थितस्ततः समाचारो लोकातिक्रान्तगोचरः।
अनन्तशक्तिवैचित्र्यादत्राप्युच्चाटनादयः ॥ २९० ॥

संहारलीलाभूयिष्ठा अपि तास्ताः क्रियाः स्थिताः।
तदित्थं ज्ञानशक्त्यन्ते भावानां वपुषि स्थिते ॥ २९१ ॥
क्रियाशक्तिरभान्त्यैव तान्संहरति सादरम्।
यदा सूक्ष्मतमा शक्तिरुन्मेषाख्या पुरावधौ ॥ २९२ ॥

स्रष्टव्यभावस्थौल्येन स्थूलाकारेव भासते।
तथैवैषा क्रियाशक्तिर्यस्यां भावा निमेषिताः ॥ २९३ ॥
स्वस्वरूपस्थितिः कापि पूर्णैव प्रविजृम्भते।
नन्वस्त्येव क्रिया यस्यां भेदः प्रत्यवभासते ॥ २९४ ॥

सैवं सर्वा क्रिया भेदं प्रत्युत प्राग्व्यपोहति ।
तथा हि भेदभूमौ ये काष्ठज्वलनतण्डुलाः ॥ २९५ ॥

त एव पाकाविष्टत्वे भेदं प्रोज्झन्ति सादरम् ।
यदि भिन्नस्वरूपास्ते पाकैक्यं तत्कथं भवेत् ॥ २९६ ॥

भिन्नं स्वरूपमङ्गानां नहि युक्त्योपपद्यते ।
ननु पाकेन कश्चित्स यत्तन्नानास्वरूपकम् ॥ २९७ ॥

ज्वलनक्लेददाहादि तत्पाक इति शब्द्यते ।
भिन्ना एव क्रियाः सर्वाः फलमेकं प्रति स्थिताः ॥ २९८ ॥

पाक इत्युच्यते नान्या क्रिया नामास्ति काचन ।
एतदेव कथं बह्वच एकं फलमभीप्सितम् ॥ २९९ ॥

कथं संपादयेयुस्ताः पूर्वोक्ता एव हेतुतः ।
ननु लोचनदीपार्थमनस्कारैरपि स्फुटम् ॥ ३०० ॥

जन्यते ज्ञानमेकं तत्तथैवात्र भविष्यति ।
सोऽयं कर्दमसंमर्दमलिनीभूतविग्रहः ॥ ३०१ ॥

मरौ मरीचिकाम्भोभिः स्नानेच्छुराभिधावति ।
भिन्नस्वरूपाद्यद्येकमस्ति वस्त्विति संभवः ॥ ३०२ ॥

तर्हि कारणभेदेन न भेदः पारमार्थिकः ।
अथ भिन्नस्वरूपं तदेकं चेत्युपगम्यते ॥ ३०३ ॥

स्वभावभेदो भेदायेत्येतत्त्यक्तं व्रतं भवेत् ।
नन्वित्थं सा क्रिया माभूदेका काष्ठादि कारकम् ॥ ३०४ ॥

फलं जनयतामेवमप्यस्तु नहि नः क्षितिः ।
क्रिया हि नाम नास्माकमन्या शक्तिस्त्वसौ यतः ॥ ३०५ ॥

शक्तिश्च फलभित्क्लृप्त्या भावात्मैव विभेदतः ।
सा च शक्तिर्विभोरेव स च विश्वात्मविग्रहः ॥ ३०६ ॥

फलकारकभेदेन न भिन्नः परमार्थतः ।
स्वात्मन्यभिन्नेऽपि विभोरेवं भेदावभासनात् ॥ ३०७ ॥

क्रियाशक्तिरिति प्रोक्ता यया कर्ता महेश्वरः ।
ननु यत्पशवः कुर्युः कथं तदुपपद्यताम् ॥ ३०८ ॥

ते हि भेदैकजीवत्वात्कुर्युर्भेदवतीं क्रियाम् ।
अलमेतेन पशवः कथं कुर्युर्यदि स्फुटम् ॥ ३०९ ॥

स एव स्ववचश्छिन्नो वादो वन्ध्यासुतादिवत् ।
नहि कुम्भकृतः क्वापि कदाचित्कर्तृता भवेत् ॥ ३१० ॥

यदि नासौ महेशाख्यात्कर्तुरव्यतिरेकभाक् ।
यद्येवं तत्कुलालेन पटोऽपि क्रियते न किम् ॥ ३११ ॥

ननु किंस्वित्कुलालेन कुम्भोऽपि क्रियते ततः ।
ईशस्य विश्वकर्तृत्वे किं पटेऽपि न कर्तृता ॥ ३१२ ॥

नन्वेवं सति नो कर्ता कोऽप्यन्य इति कर्मणाम् ।
शुभाशुभानां स्वफलं कर्तुं कं प्रति हेतुता ॥ ३१३ ॥

एवमेवैतदायुष्मंस्तथाह्येवं विजानताम् ।
न किंचन फलं क्वापि शुभाशुभसमुद्भवम् ॥ ३१४ ॥

इत्थं ये तु न जानन्ति भुञ्जते तेऽविपश्चितः ।
तदेव कर्मसंज्ञं तु मलमज्ञानमूलकम् ॥ ३१५ ॥

एतदेवानुमन्यैव केचित्संवित्तिमात्रकम् ।
संमन्यन्ते ह्यकर्तारं कर्तृत्वानुपपत्तितः ॥ ३१६ ॥

चित्स्वरूपाधिकं ह्यस्य यत्तत्कर्तृत्वमुच्यते ।
तज्जाड्यमर्पयेदस्मै चिदाधिक्यप्रसङ्गतः ॥ ३१७ ॥

प्रकृतेः कर्तृता पुंसि ननु नामोपचर्यते ।
एतन्न्यायपथापेतैर्वृथा जेगीयते गृहे ॥ ३१८ ॥

उपचारो हि नो वस्तुताथात्वं प्रतिपद्यते ।
व्यपदेशः परं तादृग्वस्तुशून्योऽस्तु तावता ॥ ३१९ ॥

नोपचारिकवह्नित्वव्यपदेशोऽपि मानवः ।
हिमानीशीकरासारिवातोत्थशिशिरापहः ॥ ३२० ॥

द्रष्टुः पुंसश्च न द्रष्ट्री प्रकृतिः परिगीयते ।
न चान्योऽस्ति वराकोऽतः कर्तृभावोपचारकः ॥ ३२१ ॥

किं च प्रयोजनं तस्य कर्तृत्वव्यवहारजम् ।
व्यपदेशस्तु नवास्तु परिवर्तयितुं क्षमः ॥ ३२२ ॥

येऽप्यात्मानं न्यायविदः कर्तारं समुपागमन् ।
तेऽपि प्रश्नमिमं तावदस्माकं प्रतिभाषितम् ॥ ३२३ ॥

किं यादृग्लोकसंसिद्धकर्तृत्वं कर्मयोगतः ।
स्पन्दात्म तद्विभौ स्पन्दहीने समुपपद्यते ॥ ३२४ ॥

ननु ज्ञानं चिकीर्षा च यत्नश्चेति गुणत्रयम् ।
समवैति यदत्रास्य तत्कर्मत्वमुदाहृतम् ॥ ३२५ ॥

इत्थं बालमतीनां धीर्विप्रलभ्येत वञ्चकैः ।
दारका अपि वा विद्युर्न संवेदनवर्जितम् ॥ ३२६ ॥

तत्र ज्ञानं न कर्तृत्वं सर्वत्रास्त्येव तद्यतः ।
इच्छायत्नावपि प्रायः संस्तः सर्वस्य सर्वतः ॥ ३२७ ॥

कुम्भकारो गृहाभावपरितापितचेतनः ।
जानन्निच्छन्प्रयत्नोऽपि किं कुर्यान्नात्मनो गृहम् ॥ ३२८ ॥

ननु कर्तुं न जानाति ततः कर्तुं न चेच्छति ।
तस्मात्कर्तुं न यतते तद्गृहं कुरुतां कथम् ॥ ३२९ ॥

कर्तुमित्येव यद्रूपं ज्ञानादीनां विशेषणम् ।
करोतेस्तत्र कोऽर्थः स्याद्यदि सस्पन्दता किल ॥ ३३० ॥

तदासौ स्पन्दितुं वेत्ति प्रेप्सतीति भवेद्वचः ।
तच्च स्वात्मगतं नास्य स्पन्दितं वैभवोद्भवात् ॥ ३३१ ॥

अन्यदस्पन्दितं ज्ञानं सर्वस्यापि च संभवेत् ।
ज्ञानेच्छायत्नवत्त्वं च करणं तस्य भाषितम् ॥ ३३२ ॥

आत्मनः कर्तुमित्यस्य ततोऽर्थप्रविवेचने ।
जानातीच्छन्प्रयतते ज्ञातुं यतितुमेषितुम् ॥ ३३३ ॥

प्रत्येकमिति योऽर्थः स कर्तुं वेत्तीति शब्दितः ।
चिकीर्षितृत्वं चैतत्स्यान्न कर्तृत्वं पुनर्भवेत् ॥ ३३४ ॥

तथात्वे मानसैः साम्यं भवेद्वाक्कायकर्मणाम् ।
वाक्कायकर्मभिर्वास्य कथं कर्तृत्वमापतेत् ॥ ३३५ ॥

मानसान्यपि कर्माणि कथं तस्येति गीयताम् ।
तद्गुणत्रयसद्भावे मनोवाक्कायसंभुवाम् ॥ ३३६ ॥

कर्मणां संचितेरेष कर्मभागीति चेन्नन्‌ ।
उपचारोऽयमेवं स्यात्स चावस्त्विवति वर्णितम् ॥ ३३७ ॥
किं चात्मगमहत्त्वादिद्रव्यान्तगुणसंनिधौ ।
तानि सन्तीति किं सोऽपि कर्तृत्वायतनो भवेत् ॥ ३३८ ॥

न चास्त्वित्युपगन्तव्यं मुक्तावपि हि तद्भवेत् ।
अन्यात्मगुणसांनिध्ये समश्चैव विधिर्यतः ॥ ३३९ ॥

आत्मस्वतः प्रवर्तेरन्कृतनाशाकृतागमाः ।
किं चेश्वरेण सर्वत्र बुद्धिमत्ताव्यपेक्षिणि ॥ ३४० ॥

संनिवेशाधिके कार्ये निमित्तत्वं कृतं यदि ।
स्वैः स्वैश्च समवायान्यकारणांशैः प्रपूरिते ॥ ३४१ ॥
कर्मशे कुम्भकारादेः प्रातुं भवतु हेतुता ।
नहि सोऽस्त्यशलेशोऽपि सर्वकर्तरि यं प्रति ॥ ३४२ ॥

न ज्ञानेच्छायतमस्ति कर्तृत्वं नान्यदित्यपि ।
तस्मान्नान्यस्य कर्तृत्वं कदाचिदपि संभवेत् ॥ ३४३ ॥
ईश्वरादीश्वरस्यपि स्वातन्त्र्यं कर्तृतां विदुः ।
तदित्थं परमेशानां भेदेऽभेदेऽपि वात्मनाम् ॥ ३४४ ॥

प्रभवन्ति न कर्माणि बन्धनाय स्वभावतः ।
तस्मादिदममुष्मात्स्यात्कर्मणो वाशुभं शुभम् ॥ ३४५ ॥

तदैश्वर्यममुष्यैव विहितं परमेशितुः ।
निर्णीतमेतदन्यत्र मयैव विततं यतः ॥ ३४६ ॥

तदलं प्रकृतं ब्रूमः क्रियाशक्तिरियं परा ।
अघोरत्वेन देवस्य तत एव प्रकीर्तिता ॥ ३४७ ॥

दाक्षिण्यमत एवास्या भावानां शिवसंश्रये ।
यतोऽञ्जसैव मार्गोऽयं या क्रिया च न सात्मिका ॥ ३४८ ॥

ननु नात्र स्थिताः केचिद्भावा ये शिवताश्रितौ ।
कर्तारः सत्यमित्थं तु बोध्यमानोऽवधारयेत् ॥ ३४९ ॥

देशकालक्रियाकारकल्पनापथवर्जितः ।
देवदेवस्तथैवास्य शक्तिः सा विश्वरूपिणी ॥ ३५० ॥

तद्विश्वमपि कालादिकलङ्काङ्कलोज्झितम् ।
..............................भैरवाभेदवर्तिनम् ॥ ३५१ ॥

तत्स्वातन्त्र्यात्स्वतन्त्रं तत्स्वात्मनि प्रोच्छलत्स्थितम् ।
यतो भाति ततोऽप्यस्तशिवावेशबहिष्कृति ॥ ३५२ ॥

अत एव परा सेयं दक्षिणाघोररूपिणी ।
यद्वक्ष्यते जन्तुचक्रे शिवधामफलप्रदाः ॥ ३५३ ॥

पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ।
अन्यत्रापि क्रियाशक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ॥ ३५४ ॥

बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिनी ।
अकारादिहकारान्तः प्रसरो यः प्रगीयते ॥ ३५५ ॥

स एव बिन्दुनिलयादस्वरत्वमुपाश्रितः ।
क्रियाशक्तिविजृम्भेयं समस्ता वर्णमालिका ॥ ३५६ ॥

क्रोडीकारेणाहमितिपरामर्शस्वरूपिणी ।
तिष्ठत्येव ततः पूर्णपराहंकारसस्फुरः ॥ ३५७ ॥

अनन्तादिविरिञ्चान्तपशुसंघातघस्मरः ।
निजोदरदरीनीतचराचरजगद्व्रजः ॥ ३५८ ॥

स्वचैतन्यविमर्शान्तर्ग्रस्तपुद्गलसंचयः ।
यावदुल्लसितस्तावत्क्रियाशक्तिस्वरूपतः ॥ ३५९ ॥

असंविज्ञाननिःसंख्यवैचित्रीचर्चितस्थितेः ।
अनन्तकार्यशान्त्यादिसौम्यरौद्रभिदात्मनः ॥ ३६० ॥

अपि स्वग्रासमाहात्म्यप्रकटीकृतसुस्थितेः ।
औचित्याद्विविधाकारा अपि भैरवतेजसः ॥ ३६१ ॥

रिक्तपूर्णोभयभावा पुनरावृत्तिचित्रिताः ।
शाक्तस्वरूपविश्वाख्यस्वांशग्रासैकलम्पटाः ॥ ३६२ ॥

लोककालचिरारूढभावोन्मूलनभाविताः ।
शक्तयो निजविस्फाराद्रश्मिपुञ्जं निजं निजम् ॥ ३६३ ॥

प्रसारयन्त्यः संकल्पसत्यभावसमाश्रयात् ।
स्वोचितान्येव लोकोत्थवामाचारबहिष्कृतेः ॥ ३६४ ॥

घटयन्त्येव शास्त्राणि यातानि परिपूर्णताम् ।
यादृक्प्रथमसंभूते लोकातिक्रान्तिगोचरे ॥ ३६५ ॥

समाचारः स एवात्र त्रस्तभेददशे भवेत् ।
पूर्णेयं परमेशस्य महासृष्टिरिह स्थिता ॥ ३६६ ॥

यस्यां संहारसृष्ट्यंशा विश्वे ते मध्यवर्तिनः ।
सा चाद्या सृष्टिरित्येव नैव वक्तुं भवेत्क्षमा ॥ ३६७ ॥

अदेशकाले तत्त्वे हि कथमाद्यादिसंभवः ।
जाग्रद्दशेयं सा मुख्या प्रोन्मेषपदभागिनी ॥ ३६८ ॥

ब्रह्मैष निजशक्त्यंशसंबोधकमलासनः ।
ता एताः सौशिवाद्रूपात्प्रभृति ब्राह्ममन्ततः ॥ ३६९ ॥

रूपं कृत्वा विजृम्भन्ते संविन्नाथस्य शक्तयः ।
एतावानेव देशोऽयमिति यद्यपि शक्यते ॥ ३७० ॥

न वक्तुमप्रमेयत्वाच्चिद्रूपस्य महेशितुः ।
प्रबोधपञ्चदशिकामध्ये तादृङ् मया स्फुटम् ॥ ३७१ ॥

उक्तं मितप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ।
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते ॥ ३७२ ॥

तथापि स्वयमेतादृग्देवो मानविवर्जितः ।
निजस्वातन्त्र्ययोगेन कृत्वात्मानं चराचरम् ॥ ३७३ ॥

ईशतत्पुरुषाजातैरुद्भूतैरुद्बुभूषुभिः ।
एककैः षड्भिरेकेन त्रिकेण द्व्यात्मकैस्त्रिभिः ॥ ३७४ ॥

जायते शिवभेदानां दशानां विविधा स्थितिः ।
अत एव विचित्राभ्यः संविदभ्यो मिश्रतावशात् ॥ ३७५ ॥

चित्राण्यत्र शिवाख्येऽपि भेदज्ञानादि तेनिरे ।
यदा त्रयाणां वक्त्राणां वामदक्षिणसंगतिः ॥ ३७६ ॥

तदा प्रत्येकशक्तित्वं भविष्यद्भवदुद्भवैः ।
षण्णां त्रित्वे रुद्रभेदस्तेनाष्टादशधा स्थितः ॥ ३७७ ॥

एकैकं पञ्चवक्त्रं च वक्त्रं यस्मात्प्रगीयते ।
दशाष्टादशभिन्नस्य ततो भेदैरसंख्यता ॥ ३७८ ॥

पूर्वोदितयथास्वस्वज्ञानकर्मविचित्रिताः ।
निर्णीयन्ते यतस्तेषु तेन नापुनरुक्तता ॥ ३७६ ॥

अन्यान्य एव बोधो हि समाचारः क्रियाक्रमः ।
तत्र तत्र तथा प्रोक्तः सर्वस्तु शिवधामगः ॥ ३८० ॥

यथा जलकणाः सर्वे विश्राम्यन्ति महाम्बुधौ ।
तथा ज्ञानक्रियाः सर्वाः संवित्सिन्धौ महेश्वरे ॥ ३८१ ॥

मितमपि जलं भूमौ सूर्यांशुभिः किल पीयते
तदपि च पुनर्वृष्टिद्वारैः प्रयाति महार्णवम् ।
जगति निखिलं ज्ञानं कर्म स्फुटं किमपि स्वयं
किमपि च परैः पारम्पर्याच्छिवार्णसि मज्जति ॥ ३८२ ॥

ऽच्चान्ते दक्षिणे हार्दं लिंगं हृत्परमं मतम् ।
तदप्यन्तः कृताशेषसृष्टभावसुनिर्भरम् ॥ ३८३ ॥

भेदभावकमायीयतेजंशग्रसनाच्च तत् ।
सर्वसंहारकत्वेन कृष्णं तिमिररूपधृत् ॥ ३८४ ॥

विज्ञानशास्त्रे कथितमत एव महेशिना ।
लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वमित्यादितिमिरं विभोः ॥ ३८५ ॥

एवमेव दुर्निशायां कृष्णपक्षागमे चिरम् ।
भावयेद्भैरवं रूपं भावयद्भिर्दुराभिदम् ॥ ३८६ ॥

उक्तं च यत्र स्वर्दुःखं तन्नो वा द्वयसंवृते ।
नाविद्याकर्मसंबन्धः पारतन्त्र्यादिदर्शनात् ॥ ३८७ ॥

तदत्र तिमिराकारे भैरवीये वपुष्यलम् ।
अन्तर्लीनतया भाति यावद्वक्त्वचतुष्टयम् ॥ ३८८ ॥

उद्बुभूषु तथोद्भूतं तिरोधित्सु तिरोहितम् ।
इत्थं युगपदेवैतद्भिदा षोडशकात्मकम् ॥ ३७६ ॥

दक्षे वैसर्गिके हार्दे स्वतन्त्रे च शिवे विशत् ।
अष्टाष्टकात्मकं शास्त्रं युगपद्भैरवाभिधम् ॥ ३६० ॥

इत्थं तन्त्रं रुद्रशिवभैरवाख्यं स्थितं त्रिधा ।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ॥ ३६१ ॥

भेदेन भेदाभेदेन तथा चाभेदसन्धिना।
तथा च मुख्याः शाम्भव्यस्तित्र इच्छादिशक्तयः ॥ ३९२ ॥

तत्रैव तु प्रपञ्चेन पञ्चशक्त्यादियोजनम्।
इत्थं मध्ये विभिन्नं तत्त्रिकमेव परं तथा ॥ ३९३ ॥

शास्त्रमस्मद्गुरुगृहे संप्रदायक्रमात्स्थितम्।
अत एव हि नैकटचाद्वामदक्षिणशास्त्रयोः ॥ ३९४ ॥

धारा प्रान्तधराप्रान्ते कौलिकी प्रविजृम्भते।
ततोऽपि संहृताशेषभावोपाधिसुनिर्भरः ॥ ३९५ ॥

भैरवः परमार्थोद्यद्रवबृंहितवृत्तिकः।
ईशानवामदक्षासु तासु शक्तित्रयं क्रमात् ॥ ३९६ ॥

परादिशक्तित्रितयं क्रोडीकृत्यावतिष्ठते।
तद्विभावयति भेदविभागं
तत्स्फुटत्वकृदथोक्तमनन्तम्।
संग्रसिष्णु परमेश्वररूपं
वस्तुतस्त्रिशिर एव निराहुः ॥ ३९७ ॥

ऊर्ध्ववामतदन्यानि तन्त्राणि च कुलानि च।
रूढान्यमुष्य धारायां भेदसंकोचहानये ॥ ३९८ ॥

परप्रकाशविषयस्त्रिकार्थस्त्रैधमास्थितः।
स एष परमेशेन ज्ञानचन्द्राख्ययोदितः ॥ ३९९ ॥

स एष सर्वः शास्त्रार्थः परवाग्वृत्तिसंश्रितः।
अनुल्लसिततद्वाच्यवाचकादिविभक्तिकः ॥ ४०० ॥

पश्चात्तु ज्ञानशक्त्यंशप्राधान्यस्फुरितात्मनि।
क्रियाशक्तिसुसूक्ष्मायां सादाख्यैश्वर्यसंपदि ॥ ४०१ ॥

पश्यन्तीमध्यमाधाम्नि सञ्जल्पोल्लेखयोगतः।
पदवाक्यस्वरूपेण वर्तते वर्णरूपिणा ॥ ४०२ ॥

स्वच्छन्दशास्त्रे तेनोक्तं स्वयं देवः सदाशिवः।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं योजितवानिति ॥ ४०३ ॥

तथा च तत्रैवोक्तं तत्सुशिलावरणेऽध्वनि ।
सुशिवावरणं पूर्वं तत्र ज्ञेयः सदाशिवः ॥ ४०४ ॥

शिवदशकसंयुक्तो रुद्राष्टादशकान्वितः ।
अधिकारो हीशतत्त्वे तज्जिघृक्षा तु सौशिवे ॥ ४०५ ॥

वरणे बिन्दुतो भोगनाम्नि विभवतो विभोः ।
भैरवाख्यस्य बोधस्य शक्तितत्त्वे परं त्रयम् ॥ ४०६ ॥

स्थितिस्तस्मादीश्वरोर्ध्वे सदाशिवपदादधः ।
सुशिवावरणेनोक्ता श्रीमत्स्वच्छन्दशासने ॥ ४०७ ॥

तदनन्तरमेतासु शिवरुद्रभिदास्वलम् ।
मायीयाध्वनि क्लृप्तासु शिवैरुक्तः शिवाभिधः ॥ ४०८ ॥

भेदो रुद्रैश्च रुद्राख्य इति प्राप्तो विचित्रताम् ।
ततः प्रोद्यत्क्रियासारप्रोल्लासात्क्रमशः स्फुटम् ॥ ४०९ ॥

सर्वगोचरमायीयश्रुतवैखर्युपाश्रिताः ।
वर्णवाक्यपदात्मानः शास्त्रार्था लोकगोचराः ॥ ४१० ॥

समाश्रित्य प्रवर्तन्ते तांस्तांस्तन्त्रावतारकान् ।
तेन प्रथमतो यावन्मायीयां वैखरीं दरीम् ॥ ४११ ॥

मायीयवर्णसंदृब्धः शास्त्रार्थो नायमागतः ।
अन्तः सारविबोधैकपरवाङ्मयवर्णकः ॥ ४१२ ॥

अकृत्रिमपरावेशमूलसंस्कारसंस्कृतः ।
शास्त्रार्थो लौकिकान्तोऽस्ति सप्तत्रिंशे परे विभौ ॥ ४१३ ॥

तत्रासतां हि भावानां क्वापि नास्त्येव सत्यता ।
स्वामिन्यविनयाक्रान्तप्रकृतौ विनयः कुतः ॥ ४१४ ॥

तस्मात्समस्तशास्त्रार्थः परतत्त्वात्मना स्थितः ।
अतो वेदादयोऽप्येते मायीयाः शासनांशवः ॥ ४१५ ॥

स्फुरन्ति भैरवादित्यप्रभावादेव नान्यतः ।
नहि संविद्विमर्शात्स्यादन्यत्क्वाप्येव कारणम् ॥ ४१६ ॥

संविन्नान्यस्य संवित्स्यात्संविदेव तथा यतः ।
कार्यं च कारणं चेति तथात्व उपचर्यते ॥ ४१७ ॥

परिणामे हि भावस्य क्रमाद्विततधर्मणः ।
आद्यन्तयोः संविदेव रूपत्वेनावभासते ॥ ४१८ ॥

संविच्च कालकलनां सहेत यदि यत्स्फुटम् ।
भुञ्जीमहि निशातासिच्छिन्ना व्योमांशशर्कराः ॥ ४१९ ॥

अतः समग्रशास्त्राणि संविद्रूपापरिच्युतेः ।
संविदः स्वप्रकाशत्वात्स्वप्रकाशानि वस्तुतः ॥ ४२० ॥

न च वाच्यं पृथग्जातु वाचकाद्व्यवतिष्ठते ।
स्वातन्त्र्यादभिधातैव भाविवाच्यतया यतः ॥ ४२१ ॥

कदाचिद्वाचकांशस्तु स्वरूपग्रस्तवाच्यकः ।
निर्भासते कदाचित्तु सामान्योल्लासवाचकः ॥ ४२२ ॥

जातुचिन्निकटानन्तविशेषणविशेषितः ।
स्फुटस्वरूपवाच्यांशसमुद्रेकेण भासते ॥ ४२३ ॥

तेनार्थपरता जातु स्वरूपपरता तथा ।
बुभुत्सितार्थता क्वापि क्वचिद्रसमयी दशा ॥ ४२४ ॥

शब्दानां लक्ष्यते चित्रा संविद्रूपानपायतः ।
संविद्विचित्रकचनैः कचतीति किमद्भुतम् ॥ ४२५ ॥

इत्थं शिवात्मकविमर्शपदादभिन्नः
शब्दः स्फुटत्वत इह स्वपरप्रकाशः ।
मानं तदेव चितिसारविमर्शमात्र-
मन्यत्पुनस्तदुपचारवशात्तथा हि ॥ ४२६ ॥

स्वप्रकाशात्मिका येयं संवित्तिः पारमार्थिकी ।
तत्स्वसंवेदनं प्रोक्तं यतो विश्वव्यवस्थितिः ॥ ४२७ ॥

सा चैषा न विमर्शात्मस्वरूपमतिवर्तते ।
विमर्शोऽस्याः परो भोगः पूर्णः पश्यन्त्युदाहृता ॥ ४२८ ॥

परापरा सैव देवी मानमित्यवधार्यताम् ।
यत्रापरांशगं मेयं तादात्म्याद्व्यवतिष्ठते ॥ ४२९ ॥

नहि भिन्नेन मानेन मेयस्य स्याद्व्यवस्थितिः ।
नहि हंसस्य शुक्लत्वे काकः श्वेतत्वमर्हति ॥ ४३० ॥

एतदेव तथा चाह गुरुः शंकरनन्दनः।
न मानत्वात्ततोऽन्यत्वान्न बाधादस्थितेः स्थितिः ॥ ४३१ ॥

प्रकाशेनाविनाभूतैः सत्तायां नियतात्मभिः।
धर्मैर्भावो बहिर्भावान्न भावः सिद्धिमृच्छति ॥ ४३२ ॥

तेन संवित्तिकात्मैव मातृमानप्रमेयता।
गृह्णती स्वप्रकाशत्वं स्वभावादेव भासते ॥ ४३३ ॥

सा चान्तःस्थितमन्त्रात्मशब्दनामर्शसुन्दरा।
अनपेक्षान्यविरहात्प्रमाणं स्वत एव हि ॥ ४३४ ॥

तस्या एव विचित्राणि नामानि बहुभङ्गिभिः।
तत्प्रसादोत्थितान्येव वादिनः पर्यचीक्लृपन् ॥ ४३५ ॥

तथा च चक्षुराद्यक्षमण्डलीटङ्कनिष्ठितम्।
प्रत्यक्षमिति यद्गीतं तत्तावत्प्रविविच्यते ॥ ४३६ ॥

संवित्तिव्यतिरेकेण यद्यक्षाणां व्यवस्थितिः।
न स्यादर्थप्रमाणैक्यं तर्हि बाह्यघटादिवत् ॥ ४३७ ॥

नन्वात्मनश्चक्षुरादि करणं न घटादिकम्।
तस्मात्तेनैव भावानां मानं न तु घटादिभिः ॥ ४३८ ॥

व्यापकाभिमतस्यास्य संयोगे चाविशेषिणः।
भौतिकत्वाविशेषेण घटाद्यैश्चक्षुरादिना ॥ ४३९ ॥

आत्मनः करणाकाङ्क्षापूरणं नियतं कुतः।
विशिष्ट एव संयोगः करणत्वे निबन्धनम् ॥ ४४० ॥

विशेषः कर्मभिस्तैस्तैर्धर्माधर्मगिरोदितैः।
तदेतद्युक्तिसद्भावप्रतिभाविकलात्मकः ॥ ४४१ ॥

ब्रुवन्वञ्चयते मुग्धान्पलायनपरायणः।
यच्चाशेषाक्षसंयोगिव्यापकात्मवशोत्थिताम् ॥ ४४२ ॥

युगपज्ज्ञप्तिमाच्छेत्तुं मनो नाम निगद्यते।
तत्रापि ब्रूमहे पूर्वं मनसात्मैव युज्यते ॥ ४४३ ॥

तत्राप्यात्ममनोयोगं कः कुर्यादिति चर्च्यताम्।
व्यापकत्वादसौ स्याच्चेत्सर्वैरेव मनो व्रजेत् ॥ ४४४ ॥

एकस्य जाते संयोगे सर्वः सर्वज्ञतामियात् ।
यदि स्वान्तमधिष्ठातृ चक्षुराद्यमपेक्षते ॥ ४४५ ॥

तेनाधिष्ठानमर्थानां तावतोऽक्षांशवर्त्मनः ।
अक्षाधिष्ठितसूक्ष्मांशभागसंपर्कभासितः ॥ ४४६ ॥

बाह्यस्यार्थस्य कुण्डादेरणुरेकोऽवभासताम् ।
अथापि मानसाधिष्ठा जाता चेदक्षगोचरे ॥ ४४७ ॥

तदेतस्य स्वविषये शक्ततैवोपजायते ।
तर्हि सूक्ष्मतमच्छिद्रनिस्सृता नेत्ररश्मयः ॥ ४४८ ॥

विश्ववर्तिनि भावौघे न प्रमां कुर्वते कुतः ।
योग्यदेशस्थितान्भावान्गृह्णतेऽक्षाणि नन्वलम् ॥ ४४९ ॥

योग्यतैव हि देशस्य कीदृशीति विचार्यताम् ।
यत्रस्थस्य भवेद्वित्तिः स देशो योग्य उच्यते ॥ ४५० ॥

कुत्रस्थस्य भवेद्वित्तिरिति किं वा न दृश्यते ।
तदमी तार्किकम्मन्या युक्त्युपन्यासवर्जिताः ॥ ४५१ ॥

पूर्वमेव कथं तुष्णीं नातिष्ठन्कि विकत्थनैः ।
आत्मनश्चाभिसंधानवन्ध्यस्यैव बलादयम् ॥ ४५२ ॥

मनोक्षजालसंयोगो भवेत्किं नासमञ्जसः ।
अभिसंधिरथैतस्य विषयं प्रति जायते ॥ ४५३ ॥

अज्ञाते कोऽभिसंधिः स्याज्ज्ञाते कोऽर्थोऽक्षसंयुजा ।
प्रज्ञाते स्मर्यमाणे चेदभिसंधातृभावितः ॥ ४५४ ॥

अन्यदेवाभिसंधातुः प्रयत्नोऽन्यत्र जायते ।
मनोयुक्तात्मसंबद्धचक्षुराद्यक्षसंश्रिताः ॥ ४५५ ॥

विषयाः सविधीभूतनेत्राद्युल्लङ्घनक्रमात् ।
आत्मन्येव कथङ्कारं प्रमातृत्वं प्रतन्वताम् ॥ ४५६ ॥

ननु ज्ञानकृतो मातृभावो विज्ञानमात्मनि ।
समवैति ततोऽन्यस्य कथं मातृत्वशङ्कनम् ॥ ४५७ ॥

एतदेव वयं ब्रूमो ज्ञानं तत्रैव वै कुतः ।
भयात्स्वपक्षपातान्धस्तदेवोत्तरमभ्यधात् ॥ ४५८ ॥

यथेन्द्रियात्मसंयोगे मनः कारणमुच्यते ।
तथैवात्ममनोयोगे कारणान्तरमुच्यताम् ॥ ४५९ ॥

तथात्वे चानवस्थैव मूलक्षतिकारी च सा ।
अथ स्वान्तात्मसंयोगो ध्रुव एवाभ्युपेयते ॥ ४६० ॥

ज्ञातारः स्युः सदा सुप्तमत्तमूर्छितदुर्भगाः ।
न चैतद्भवतां ज्ञानमभीष्टं शाक्यशिष्यवत् ॥ ४६१ ॥

तस्मात्प्रत्यक्षता नाम कथमिन्द्रियगोचरात् ।
अथ प्रत्येकमेतेषां परीक्षेयं प्रतन्यते ॥ ४६२ ॥

तत्राणु नित्यं सर्वार्थं वेगवल्लब्धभौतिकम् ।
मनस्तच्चापि नैवेह युक्तिसिद्धत्वमश्नुते ॥ ४६३ ॥

अणु चेच्छीघ्रसञ्चारि मनो यद्विषयान्मुहुः ।
स्पृशेत्तदैव देहस्य भवेच्छवशरीरता ॥ ४६४ ॥

देहस्थेऽपि मनोयोगे तत्रैव ज्ञानयोगतः ।
एकाणुमात्रं जीवः स्याच्छिष्टं स्याद्घटकुड्यवत् ॥ ४६५ ॥

अथ स्वान्तेन योगश्चेज्जातः क्वाप्यात्मगोचरे ।
तद्विभोरात्मनो ज्ञानं समवायीति मातृता ॥ ४६६ ॥

जातेति सर्वदेहस्थं जीवनं किं न सिद्धयति ।
एनयैव न किं युक्त्या घटादेर्जीवनं भवेत् ॥ ४६७ ॥

विभावात्मनि जातं हि ज्ञानं तत्रैकदेशतः ।
देहमात्रे पुनः स्वान्ते भवेत्सावयवा स्थितिः ॥ ४६८ ॥

विभुत्वे मानसस्य स्याद्युगपत्सर्ववेदनम् ।
नित्ये च मनसि ज्ञानं सर्वदैव भवेत्ततः ॥ ४६९ ॥

मोक्षावस्थापि विज्ञानयोगिन्येवोपजायते ।
मुक्तौ चात्ममनोयोगो नास्तीत्येतन्महाद्भुतम् ॥ ४७० ॥

किं हि व्यापकता मोक्षे स्वात्मनो विनिरुद्धयते ।
अभौतिकं चेत्सर्वार्थं कथङ्कारं मनो भवेत् ॥ ४७१ ॥

विशिष्टविषयव्यक्तिकौशलादेव चक्षुषः ।
तैजसत्वमभीष्टं हि तन्मनो भौतिकं न किम् ॥ ४७२ ॥

सर्वार्थत्वे च मनसः किमन्यैरक्षडम्बरैः ।
ननु बाह्येऽस्य विषये प्रागस्त्यक्षोपयोगिता ॥ ४७३ ॥

तथा हीन्द्रियसंदृष्टे पाश्चात्या मनसः स्थितिः ।
अत्रोच्यते यथैव प्रागिन्द्रियेण न गृह्यते ॥ ४७४ ॥

तच्चेत्स्वलक्षणं पश्चादनुयन्त्रिति का कथा ।
अथ सामान्यमात्रं तद्गृहीतं प्राक्तदिन्द्रियैः ॥ ४७५ ॥

व्यक्तिनिष्ठं तदानीं च मनसा व्यक्तिनिश्चयः ।
नास्तीति मनसा कस्मात्सामान्यग्रहणं भवेत् ॥ ४७६ ॥

विना व्यक्तिग्रहेणैव सामान्यग्रहणं य[कु]तः ।
सामान्यग्रहणे चास्य सर्वार्थत्वं निरुद्ध्यते ॥ ४७७ ॥

विशेषग्रहवन्ध्यस्य सर्वशब्दविलोपतः ।
आशुगामित्वमेतस्य यच्चोक्तं तत्र वस्तुनि ॥ ४७८ ॥

पुरःस्थिते स्वहस्तादौ किञ्चिद्दूरगते घटे ।
अतिदूरे च मेर्वादौ कथं तुल्यैव गन्तृता ॥ ४७९ ॥

आशुसंचारिणां यस्मात्क्वापि पूर्वकतेजसाम् (?)।
सविधासविधत्वेन विशेषः प्रविभाव्यते ॥ ४८० ॥

कथं चाभौतिकं सूक्ष्मं गृह्णीयात्पर्वतादिकम् ।
अभिव्यक्तिः समानस्य समानेन विधीयते ॥ ४८१ ॥

नन्वस्तु प्राकृती बुद्धिस्ततोऽहंकृत्ततो मनः ।
इत्थमप्यणुता नैव मनसः संप्रसिद्ध्यति ॥ ४८२ ॥

व्यापकत्वेन पूर्वोक्तदूषणानि स्थितान्यलम् ।
इत्थं मनो न युक्त्यंशैर्मानसावर्जनाय नः ॥ ४८३ ॥

यादृग्वाद्यन्तरैरिष्टं द्वैतव्यामूढदृष्टभिः ।
चिदात्मनः प्रकाशस्य तथाभासनभागिनी ॥ ४८४ ॥

या शक्तिस्तन्मनस्तत्वस्तु स्वस्वातन्त्र्योपकल्पितम् ।
यत्र श्रोत्रं नभस्तत्र सर्वशब्दश्रुतिर्भवेत् ॥ ४८५ ॥

चक्षराद्यैश्च सर्वत्र निर्विबन्धं यतो नभः ।
धर्माधर्मैर्विबन्धश्च यक्त्युपन्यासवैकली ॥ ४८६ ॥

बाधिर्यादि कथं च स्यात्कथं वा तच्चिकित्सनम् ।
बन्धाश्रयविघातेन तदनुग्रहतस्तथा ॥ ४८७ ॥

अक्षं स्वावयवेष्वेव.............समवायिनः ।
विशेषेण नभो नैव क्वाप्याश्रितमिति स्थितिः ॥ ४८८ ॥

संयोगिता तु...............साकं भावेन वर्तते ।
तदनुग्रहघाताभ्यामपि विक्रियतां ततः ॥ ४८९ ॥

यदनुग्रहतस्तस्यानुग्रहः स तदाश्रयः ।
इतीयं स्ववचःक्लृप्तिर्निःसारैव विभाति नः ॥ ४९० ॥

आश्रयद्वारकोऽक्षाणामनुग्रह इति स्फुटम् ।
अभिधत्स्व क एतेषामाश्रयोऽस्त्विति चोदिते ॥ ४९१ ॥

यदनुग्रहयोगोऽस्य स एवाश्रय इत्ययम् ।
न्यायोऽन्योन्यसमालम्बी चक्रकं नातिवर्तते ॥ ४९२ ॥

वायुप्रकृति यच्चोक्तं स्पर्शनं तद्विविच्यते ।
वायोर्वेगवती तावदनिरुद्धा स्थितिः स्थिता ॥ ४९३ ॥

देहदेशे ततः स्पर्शः न कुड्य इति कः क्रमः ।
चक्षुश्च तैजसं तेजः प्रसृतं बाह्यगोचरे ॥ ४९४ ॥

अर्थान्रूपप्रधानांश्च वेत्तीत्येतन्निरूप्यते ।
अदृश्यं यदि तत्तेजः प्रेर्यते मनसा कथम् ॥ ४९५ ॥

प्रेरणं नह्यविज्ञानं कदाचिदुपपद्यते ।
इन्द्रियेण न च ज्ञातं कदाचिच्चाक्षुषं महः ॥ ४९६ ॥

न चापीन्द्रियविज्ञाते स्वतन्त्रं भवतां मनः ।
अप्रेरितं च तत्पश्येत्सर्वतः सर्वथा सदा ॥ ४९७ ॥

आसमञ्जस्यमेव स्यात्प्रवृत्तौ वा निवर्तने ।
किं च गोलकसंस्थानं तावच्च यदि तन्महः ॥ ४९८ ॥

तावतस्तद्गतस्यैव ग्रहः स्यान्नान्यतः क्वचित् ।
तथैतद्विपरीतं तु गोलकेऽपि निमीलिते ॥ ४९९ ॥

उन्मीलिते वा सर्वत्र वस्तुनि ग्रहणं भवेत् ।
उन्मीलिते चक्षुषि च प्रसृते रश्मिमण्डले ॥ ५०० ॥

तस्यास्ति न पटस्येव संवृतिर्नेत्रमीलने।
ततो निमीलिताक्षस्य वस्तुदृष्टिर्न किं भवेत् ॥ ५०१ ॥

घने चातपमध्येऽस्ति विनिमीलितचक्षुषः।
चित्रतेजोवभानं तत्पीडिताक्षयुगस्य च ॥ ५०२ ॥

योगिनां बिन्दुदृग्ध्वान्ते कथं तद्वा भविष्यति।
भवेन्दुमीलितेऽप्यक्षिण न वस्तुग्रहणं क्वचित् ॥ ५०३ ॥

मनोधिष्ठानयोगेन परमाण्वधिकप्रथा।
दीपापेक्षा च यामुष्य सापि किं न विबाध्यते ॥ ५०४ ॥

दीपप्रकाशः स्वान्तात्मनेत्रार्थेषूपकारकः।
न प्रत्येकं मनोवृत्तेः संस्कारस्तेन चेद्भवेत् ॥ ५०५ ॥

दीपे संकल्प्यमाने स्याद्रात्रौ रूपपरिग्रहः।
आत्मनः संस्क्रिया चेत्स्यात्तस्य सर्वगतत्वतः ॥ ५०६ ॥

सर्वदा रूपसंवित्स्यात्संयोगः संस्क्रिया यतः।
अमूर्तस्यापि नित्यस्य कोऽन्यः संस्कार उच्यते ॥ ५०७ ॥

नेत्रोपकारश्चेत्तर्हि नेत्रदेशस्थितेऽर्चिषि।
तेजोमध्यगतं रूपं न भासेत कदाचन ॥ ५०८ ॥

ननु तद्वेद्यदेशेऽसौ नायनः किरणव्रजः।
हन्त तत्रैव विज्ञानमात्मदेशे न किं भवेत् ॥ ५०९ ॥

तत्रैवात्मा विभुत्वेन तत्रैव करणं यतः।
तस्माद्भोगाश्रयो देहो जीवन्निति वृथोक्तयः ॥ ५१० ॥

नायनानां मयूखानां गन्तृत्वेऽवसिते सति।
अनावृतेऽरण्यमार्गे स्वहस्तात्प्रभृति स्फुटम् ॥ ५११ ॥

अर्कचन्द्रादिसंदृष्टिः कथं नामोपजायताम्।
शीघ्रत्वेऽपि यतः प्रोक्तभेदो दूराविदूरगः ॥ ५१२ ॥

दीपनेत्रावभासाभ्यां छन्ने तस्मिन्कथं मतिः।
शुद्ध एव भवेद्भावे ताभ्यां व्यामलताजुषि ॥ ५१३ ॥

अन्धत्वं तच्चिकित्सा च न युक्ताश्रयदूषणा।
रसना च जलात्मा चेत्तज्जलं स्रुतिमद्यतः ॥ ५१४ ॥

ततः स्थैर्यं कथं तस्य का च नानारसप्रथा।
तस्यैकरसतायोगे तस्या नैकरसस्थितेः ॥ ५१५ ॥

न स्यादेकरसज्ञप्तिर्यथा पित्तभरे सति।
तिक्ता रसनवृत्तिर्नो माधुर्यं विदितुं क्षमा ॥ ५१६ ॥

ननु पित्तगतं तैक्ष्ण्यं न त्वेवं रसनागतम्।
तर्हि पित्तगुडौ तुल्यं रसनापथगामिनौ ॥ ५१७ ॥

इति स्याद्युगपज्ज्ञप्तिस्तिक्तमाधुर्यगोचरा।
नीरसा रसना चेत्सा रसाभिव्यञ्जिका कुतः ॥ ५१८ ॥

स्वभावादिति चेदस्याः कोऽयमाम्भसताग्रहः।
घ्राणं च पार्थिवं तस्य काठिन्यं किं न दृश्यते ॥ ५१९ ॥

ननु गन्धगुणोद्रेकि किं स गन्धो न भासते।
नास्ति तत्रेन्द्रियव्यक्तगन्धवत्त्वे तथा प्रमा ॥ ५२० ॥

निर्गन्धमपृथिव्यात्म मनो गन्धग्रहक्षमम्।
अस्त्येव भवतां तेन नानुमा तादृशः क्षमा ॥ ५२१ ॥

तस्मादिन्द्रियसंघातो भौतिको नोपपद्यते।
आहङ्कारिकतायां तु व्याप्तृत्वमविभिन्नता ॥ ५२२ ॥

देहाश्रयविरोधश्च करणत्वेन चास्थितिः।
वागादि यच्च कर्माक्षपञ्चकं तद्विविच्यताम् ॥ ५२३ ॥

आनाभेर्मूर्धपर्यन्तं यः समीराभिघातजः।
विशेषः कोऽपि वागात्मा स तादृगिह कथ्यते ॥ ५२४ ॥

तस्य कार्यं भवेच्छब्दः कर्ता कोऽत्र विचार्यताम्।
आत्मनो नैव कर्तृत्वं तथात्वेऽपि विभुत्वतः ॥ ५२५ ॥

मया प्रोच्चारिते शब्दे त्वं वक्ता किं न जायसे।
प्रकृतावपि दोषोऽयं कर्त्र्यां कर्तृत्ववर्जिता ॥ ५२६ ॥

करणस्य स्थितिर्नास्ति तुल्ये वागिन्द्रिये सति।
कथं चास्फुटसुस्पष्टभावः शब्देषु जायते ॥ ५२७ ॥

कथं चोपांशुसंजल्पस्मृत्यादौ शब्दगा भिदा।
प्रयत्नाच्चेत्प्रयत्नोऽपि यद्युत्पत्तिस्ततः कथम् ॥ ५२८ ॥

विशेषो जायते ह्यन्यो नह्यन्यगुणसंभवः ।
प्रयत्नमान्द्यामान्द्याभ्यां येन प्रतिविधीयते ॥ ५२९ ॥

पाणीन्द्रियं चाददानं मुखाद्यैर्ग्रहणं कुतः ।
ग्रहणं च किमुच्येत स्वीकारो यदि संमतः ॥ ५३० ॥

अस्वस्य स्वस्य करणं स्वीकार इति भण्यते ।
स्वशब्दश्चात्मवाची चेत्तत्रात्मा प्रकृतिर्यदि ॥ ५३१ ॥
तन्नास्त्यप्राकृतं किंचिदित्यस्वत्वं कथं किल ।

अहङ्कारोऽप्यथात्मा स्यान्नाहङ्कारी कृतिर्घटे ॥ ५३२ ॥
आत्मीयोऽयमनेनैतद्दूषणेनैव दूषितम् ।
अहङ्कारस्य संबन्धि सर्वमेव हि तत्स्वकम् ॥ ५३३ ॥

आत्मनो व्यापकस्यास्ति न स्वं नास्वं च किंचन ।
एवं पादेन्द्रियस्यापि समोऽयं युक्तिविक्रमः ॥ ५३४ ॥

देशाद्देशान्तरप्राप्त्या गमनं च यदुच्यते ।
तत्त्यागरूपं स्वीकाराभावेनैव प्रसिद्ध्यति ॥ ५३५ ॥

स्वीकारो दूषितश्चैव स्त्रीकारांशोऽपि यो गतौ ।
तस्य पाणीन्द्रियं युक्तं करणं नाङ्घ्रिनामकम् ॥ ५३६ ॥

इन्द्रियाणां हि सांकार्यमेवं कार्येषु जायते ।
अत एव महान्यायवेदिभिश्चरमे नये ॥ ५३७ ॥
प्रोक्तो गतिनिषेधाय भूयान्सद्वाक्यडम्बरः ।
गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते ॥ ५३८ ॥

गतागतविनिर्मुक्तं नास्तीत्यादि स्वके नये ।
पाय्विन्द्रियं च न च्छिद्रमात्रं कोष्ठचमरुत्क्रमात् ॥ ५३९ ॥

उत्सर्गः किल सांकार्यं तेन स्यादियती स्थितिः ।
उपस्थमिन्द्रियं यच्च तस्य कार्यं निगद्यते ॥ ५४० ॥

आनन्दः स सुखात्मैव तर्हि दुःखेऽपि कथ्यते ।
इन्द्रियान्तरमेवात्र मोहेऽप्येवं निरुच्यताम् ॥ ५४१ ॥

दृष्टे ह्लादिनि वा स्पष्टे घ्रातेऽप्याकर्णितेऽपि वा ।
आनन्दो वेद्यते तत्र वाच्यमेवेन्द्रियान्तरम् ॥ ५४२ ॥

यच्चाप्यानन्दसंज्ञातमिन्द्रियं तत्र वर्तनी।
पायुवत्तन्न कर्माक्षपञ्चकं युक्तिमर्हति ॥ ५४३ ॥

कर्मबुद्ध्यक्षजालस्य समं चेज्ज्ञप्तिसंभवः।
तर्हि बुद्ध्यक्षपक्षेऽपि कथं न युगपद्विदा ॥ ५४४ ॥

यदि चायोगपद्यं तच्चक्षुषा सत्यदर्शने।
सूक्ष्ममुक्ताफलादीनां प्रोम्भनं किं न शक्यते ॥ ५४५ ॥

निमीलिताक्षस्यादानगत्यादि न कथं भवेत्।
भावेषु चक्षुषापाते यदि न स्पर्शनेन्द्रियम् ॥ ५४६ ॥

स्वशरीरं निश्चिनुयात्तत्कुडचप्रतिमं भवेत्।
किं चाक्षव्यतिरिक्तोऽसौ न देहो नाम लभ्यते ॥ ५४७ ॥

अक्षाणि करणानि स्युः स्पर्शात्मानि न वै कुतः।
देहो नियामकश्चेत्स्यान्नाक्षवर्जं स कश्चन ॥ ५४८ ॥

अभौतिके च भावेऽपि कथं ग्रहणमिन्द्रियैः।
तद्वदेव सुखादीनां किं वा न ग्रहणं भवेत् ॥ ५४९ ॥

संनिवेशश्च नो रूपं स्पर्शनापि तथा ग्रहात्।
न स्पर्शो नेत्रगम्यत्वादनयोर्ग्रहणं कथम् ॥ ५५० ॥

स्पर्शेन चक्षुषा वा स्वादित्थं कर्मापि चर्च्यताम्।
सामान्यसमवायादेस्तथावयविनः प्रथा ॥ ५५१ ॥

कथमिन्द्रियसंघातैररूपादि तथा हि तत्।
यश्चादौ संनिकर्षोऽपि संयोगसमवायजः ॥ ५५२ ॥

अप्रसङ्गातिप्रसङ्गकारी स परमार्थतः।
प्रत्यक्षं समवायं च ये भावं प्रतिपेदिरे ॥ ५५३ ॥

तेषामेतेन नेत्रेण संनिकर्षो हि को भवेत्।
कपित्थरसरूपांशौ संयुक्तसमवायतः ॥ ५५४ ॥

तुल्याववेति नेत्रेण रसः किं वा न गृह्यते।
अभावश्चक्षुषा ग्राह्य इति वा भवतां कथम् ॥ ५५५ ॥

भावोऽवश्यतया सोऽस्तीत्येतदप्यबाधितम्।
समवायोऽपि भावो हि न चास्मिन्संनिकृष्टता ॥ ५५६ ॥

अस्ति चाध्यक्षता तेन सर्वं तदसमञ्जसम् ।
ननु सामान्ययोगेन भावत्वं तु विभाव्यते ॥ ५५७ ॥

पदार्थत्रयसंकारि समवाये च तत्कृतः ।
हन्त तर्हि न सामान्ये भावत्वं युक्तिमत्ततः ॥ ५५८ ॥

तत्रापि संनिकृष्टत्वघोषणाव्यसनेन किम् ।
सामान्यसमवायादेः संनिकर्षं विना ग्रहे ॥ ५५९ ॥

विश्ववर्तिषु भावेषु किं वै स्यान्न तथा ग्रहः ।
ननु वस्तुस्वभावोऽयं नानुयोगं च सोऽर्हति ॥ ५६० ॥

नूनं तर्ककथा क्षीणा तदलं माननिश्चयैः ।
एवं नास्त्यनुमानस्य संबन्धिनियमग्रहः ॥ ५६१ ॥

अन्वयव्यतिरेकौ च कथं तद्ग्रहणं विना ।
धूमाधूमवह्न्यवह्निव्यक्तयो निखिलाः कथम् ॥ ५६२ ॥

जन्मनापि च गृह्यन्तामन्वयादि तथा कुतः ।
ननु सामान्ययोगेन संबन्धग्रहणं भवेत् ॥ ५६३ ॥

एतद्वयं न जानीमस्तज्ज्ञापयितुमर्हसि ।
यत्र स्याद्धूमसामान्यं वह्निसामान्यमत्र चेत् ॥ ५६४ ॥

अत्रातिदेशमात्रेऽतिप्रसङ्गोऽस्य विभुत्वतः ।
व्यक्तौ देशे तु नो युक्तमधूमव्यक्तिगेऽनले ॥ ५६५ ॥

धूमव्यक्तेः स्वभावोऽग्निरग्रेर्व्यक्त्यविनात्मता ।
एतदेव कुतो मानात्प्रत्यक्षाद्यति तत्कथम् ॥ ५६६ ॥

अन्यव्यक्तेस्तथाभावनियमावगतिः कुतः ।
यच्च धूमत्वसामान्यं नियामकमिहेष्यते ॥ ५६७ ॥

तत्र वह्नित्वसामान्यमविनाभावि वर्तते ।
नहि जात्यन्तराज्जातिर्विना नास्तीति युज्यते ॥ ५६८ ॥

गम्यते यदि तेनैतदविनाभावलक्षणम् ।
अविनाभावगमने अन्योन्याश्रयतामितः ॥ ५६९ ॥

धूमाद्वह्नित्वसामान्यप्रतीतिर्यदि चोद्भवेत् ।
सामान्यग्रहणे तर्हि न भवेद्व्यक्त्यपेक्षणम् ॥ ५७० ॥

व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्ते च सामान्ये परिनिश्चिते ।
तासु तत्सम्भवैतीति मुग्धश्रद्धाविजृम्भतम् ॥ ५७१ ॥

सामान्ये च पृथग्भूते तेन चार्थक्रियाकृते ।
न स्यात्प्रवृत्तिर्लोकस्य स हि तत्प्रापणोत्सुकः ॥ ५७२ ॥

अथ सामान्यमाक्षिप्तव्यक्तिकं |संप्रतीयते ।
सामान्यं ज्ञातमाक्षेप्तुं व्यक्तिं किं व्यग्रविग्रहम् ॥ ५७३ ॥

तस्मिन्ननु च तद्वृतं श्रद्धत्तामेतदेव कः ।
ननु प्रमाणसंसिद्धिभिदोर्जातिविशेषयोः ॥ ५७४ ॥

भेदेन नास्ति ग्रहणं ततो वृत्तिः प्रकल्प्यते ।
सोऽयं मुग्धमतीन्बालान्प्रतार्य निरपत्रपः ॥ ५७५ ॥

विदग्धम्मन्यतामूढो विप्रलम्भयतेऽपि नः ।
तत्सत्यमुक्तं केनापि लोकवृत्तान्तर्दाशिना ॥ ५७६ ॥

येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ।
भेदेन ग्रहणं नास्तीत्यत्र यद्ग्रहणं मतम् ॥ ५७७ ॥

या च प्रमाणसंसिद्धिभिदोरित्यत्र सा मता ।
तयोरन्योन्यवादेन प्रतिज्ञैव विरुद्धयते ॥ ५७८ ॥

यदि मानाद्विभिन्नौ तौ तद्भेदग्रहणं न किम् ।
भेदवेदि हि यन्मानं तदेव ग्रहणं भिदः ॥ ५७९ ॥

भेदेन नास्ति ग्रहणमित्युक्ते नापि भेदगम् ।
प्रमाणमिति चोक्तं स्यात्तस्मान्नेत्थं सतत्त्वधीः ॥ ५८० ॥

व्यक्त्यादिना च विज्ञानमस्ति शब्दानुमानयोः ।
तच्च सामान्यविषये भेदग्राहि न किं भवेत् ॥ ५८१ ॥

ननु यादृङ्मता जातिः प्रत्यक्षे ह्यवभासते ।
नेदृशी शब्दलिङ्गाभ्यां जनितप्रत्ययोदये ॥ ५८२ ॥

हन्त स्फुटास्फुटादीनां धर्माणां संभवो यदि ।
जातावस्ति गुणास्तर्हि सामान्येऽप्यव्यवस्थिताः ॥ ५८३ ॥

ननु ज्ञानं स्फुटान्यत्वभासि स्यादसदीदृशम् ।
ज्ञानं हि विषयाकारप्रकाशपरिनिष्ठितम् ॥ ५८४ ॥

अर्थोपरागजनितैः स्फुटाद्यैरुपचर्यते ।
नन्वस्य स्फुटताद्यस्तु स्वयं सूर्यमरीचिवत् ॥ ५८५ ॥

मैवं तेजोणवस्तैस्तैर्विसंभागैरतैजसैः ।
सान्तरव्यन्तरीभूता विभ्रान्तध्यामलायितम् ॥ ५८६ ॥

उत्पत्तिमात्ररचितभावाभावः प्रकाशते ।
गुणैर्निरंशो विज्ञाने नेदृक्साम्यं सुसंगति ॥ ५८७ ॥

ज्ञानस्योत्पत्तिमात्रेण विषयो ह्यवभासते ।
अनुत्पत्तौ न वा भाति न तु तान्यथवा स्फुटम् ॥ ५८८ ॥

ननु शब्देऽनुमाने वा सामान्यं भात्स्वरूपतः ।
व्यक्तिमाक्षिपतीत्येवं भेदेन ग्रहणं कृतः ॥ ५८९ ॥

उच्यते भास्वरूपेण सामान्यं व्यक्तिमाक्षिपेत् ।
व्यक्तिस्थतत्प्रतीतिर्या स एवाक्षेप उच्यते ॥ ५९० ॥

तनोऽध्यक्षेण सर्वासां धियां साम्यं न किं भवेत् ।
नन्वस्फुटैव सा व्यक्तिरेतदेव विविच्यताम् ॥ ५९१ ॥

स्फुटत्वमस्फुटत्वं च स्तो धर्मौ यदि कावपि ।
अस्फुटव्यक्तिनिष्ठं तत्सामान्यमिति जायते ॥ ५९२ ॥

तथापि तादृशस्यास्य स्फुटमेव ग्रहः स्थितः ।
स्फुटव्यक्तिषु जातिश्च समवेता न संभवेत् ॥ ५९३ ॥

ननु यद्व्यक्तिमात्रं तन्निष्ठं सामान्यमुच्यते ।
मात्रशब्दे वयं नार्थं विद्मोऽपि सुसमाहिताः ॥ ५९७ ॥

सापि हि व्यक्तिरेव स्यात्सामान्यं वा न वा द्वयम् ।
ननु व्यक्तेः स्फुटत्वे क आक्षेपार्थो भवेदिह ॥ ५९८ ॥

मा भूत्किं खलु वस्त्वंशास्त्वदुक्त्यनुविधायिनः ।
अवस्थादेशकालादिदूषणं यच्च चर्चितम् ॥ ५९९ ॥

अनुमानेऽत्र हरिणा तदप्यनुसरेद्बुधः ।
किं चाप्रयोजकीकर्तुं हेतुः सर्वोऽपि शक्यते ॥ ६०० ॥

धूमश्च स्यादनग्निश्चेत्येवं मूर्तौ ध्रुवो यथा ।
सर्वो वह्निप्रयुक्तो हि धूम इत्यत्र का प्रमा ॥ ६०१ ॥

सामान्यद्वारताक्षिप्ता न चोपायान्तरस्थितिः ।
धूमः प्रयोजको वह्नेर्मूर्तावपि न किं भवेत् ॥ ६०२ ॥

अनित्यत्वस्य नियमज्ञप्त्युत्पत्तिकृतौ न तु ।
अन्योन्याश्रयताज्ञानमनवस्था न चैव हि ॥ ६०३ ॥

शाम्यतीति न युक्तेत्थमनुमानप्रमाणता ।
तद्भेदवादिनां तावद्द्वे माने नैव संगते ॥ ६०४ ॥

शब्दादेस्त्वनुमानेन सुधीभिः परिनिश्चितम् ।
तस्मात्स्वसंविदेवैषा स्वप्रकाशतया स्थिता ॥ ६०५ ॥

मातृमानप्रमेयादिप्रपञ्चैः सावभासते ।
समुल्लासः सिन्धोर्बहललहरीविभ्रममयः
प्रकाशः शशाङ्कः कुमुददलनिर्भेदसचिवः ।
परस्याः संवित्तेर्मितिविषयामातृव्यतिकरै-
र्विकत्सो यः सेयं जगति विविधा कल्पनकला ॥ ६०६ ॥

तस्मात्प्रकाश एवायं चित्रशक्तिसुनिर्भरः ।
स्वयं विचित्ररूपेण भाति विश्वत्र विश्वतः ॥ ६०७ ॥

तदयं प्रस्फुटाभासो लोकरूपादिवर्त्मना ।
स्वशक्त्यंशाद्विकल्पाख्यात्प्रत्यक्षव्यपदेशभाक् ॥ ६०८ ॥

तथाहि देवदेवांशस्तत्समुन्मीलनं दृशः ।
प्राणस्पन्दस्तदैकाग्र्यं भावस्तद्धर्मसंचयः ॥ ६०९ ॥

इत्यादि सर्वं यद्भाति तत्प्रत्यक्षमिति स्फुटम् ।
न त्वत्र कर्तृकर्मांशकरणत्वादिना गतिः ॥ ६१० ॥

नन्वसावस्ति पाश्चात्ये वैकल्पिकपथे ततः ।
यतो देहघटाभासः स्फुटः पश्चात्तु सोऽस्फुटः ॥ ६११ ॥

स एव च्छन्नरूपस्तु शुद्धांशस्वात्मसंविदाम् ।
ततो देहघटाभासस्तत्राप्येषैव वर्तनी ॥ ६१२ ॥

यावत्सहस्रदेहौघभावकोट्यवभासनम् ।
तत्रापि च पुरा पश्चान्न तु तादृक्प्रथा यदि ॥ ६१३ ॥

आमर्शपदवीं याति तत्स्फुटास्फुटचित्रितः ।
तावानसावेक एव स्वरूपप्रस्फुटात्मकः ॥ ६१४ ॥

शिवप्रकाश आयाति विचित्रोऽयं न वस्तुतः ।
तत्रातद्रूपसंवेशाद्वैचित्र्यं परिचर्च्यते ॥ ६१५ ॥

शिवप्रकाशेऽतद्रूपप्रवेशस्तु न सङ्गतः ।
यदि वा कथितन्यायबलात्क्वापि न चित्रता ॥ ६१६ ॥

किंतु चित्रतयाभासश्चित्रभावं प्रसूयते ।
एवं चैत्रोऽयमस्माकं चित्रवद्भन्नीदृशः ॥ ६१७ ॥

मैत्रेण तन्मतेनालं दृष्टो मां भावदर्शिनम् ।
पश्यन्पश्यति यः सोऽयं समाधौ परिनिष्ठितः ॥ ६१८ ॥

प्राक्त्वेष जन्मकोटीषु तत्तत्पाद्यभुङ्क्त वै ।
मोक्ष्यते ध्यानचर्याद्यैर्योऽप्येतेन पथागतः ॥ ६१९ ॥

सोऽप्यन्यो मोक्षभागीत्थमपर्यवसितोदयः ।
प्रकाश एक एवायं यश्चिरान्न विभिद्यते ॥ ६२० ॥

अत एव हि भेदोऽस्ति न कश्चिद्यो महेश्वरम् ।
अद्वयं संप्रभिन्दीत प्रकाशानन्दसुन्दरम् ॥ ६२१ ॥

देशकालाकृतिज्ञानधर्मोपाध्यन्तरादयः ।
संमता भेदकत्वेन भान्ति चेत्सा विभा तथा ॥ ६२२ ॥

न चेद्विभैव सा तादृक्तदद्वैतमिदं स्फुटम् ।
भेद इत्येष शब्दस्तु केवलं प्रतिभोज्झितः ॥ ६२३ ॥

अस्तु वा भेदकलना प्रतिभासंप्ररोहिणी ।
उक्तनीत्या तु तत्रैव सप्रतिष्ठा भविष्यति ॥ ६२४ ॥

अयं घटः पटश्चायं तावन्योन्यविभेदिनौ ।
प्रमात्रन्तरभिन्नौ च तौ मत्तोऽपि विभेदिनौ ॥ ६२५ ॥

इति प्रकाश एकोऽयं तथामर्शस्वरूपकः ।
नन्वेवं पक्षपातोऽयमद्वैतं भवतां कथम् ॥ ६२६ ॥

भेदोऽप्यस्तु स आहत्य किं नाम न विषह्यते ।
सेयं बधिरगोष्ठीषु गीतवाद्यप्ररोचना ॥ ६२७ ॥

नह्यद्वयं द्वयावेशबाधेनास्माभिरुच्यते ।
त्वत्पक्षोपगमो ह्येष स्याद्द्वयं तद्धि सुस्फुटम् ॥ ६२८ ॥

इदं द्वैतमिदं नेति तदिदं च द्वयाद्वयम् ।
इति यत्र समं भाति तदद्वयमुदाहृतम् ॥ ६२९ ॥

नन्वित्थमस्तु भेदोऽपि न वयं शब्दकामुकाः ।
अस्त्वसौ नहि नो हेयमादेयं वा यथात्र वः ॥ ६३० ॥

सर्वानुग्राहकं पक्षमालिलम्बिषसे यदि ।
परमाद्वयदृष्टि तत्संश्रयेः शरणं महत् ॥ ६३१ ॥

एतदष्टादशे तत्त्वमधिकारे भविष्यति ।
यत्तदन्ते परप्राप्यं तदस्तु परमार्थतः ॥ ६३२ ॥

अत्र ये नहि विश्रान्तास्ते मितां संविदं श्रिताः ।
सर्वथैवापबाध्यन्ते जन्ममृत्यूत्थविभ्रमैः ॥ ६३३ ॥

तस्मात्स एक एवासौ प्रकाशः परमेश्वरः ।
प्रत्यक्षमिति तेनैव प्रकाशेनैव भासते ॥ ६३४ ॥

तत्र ता दृष्टयः सर्वा महानद्य इवार्णवेः ।
विशन्त्यवश्यं नाविष्टाः प्रयान्ति कृतकृत्यताम् ॥ ६३५ ॥

तथा हि मानसामग्री रूपालोकमनोक्षजा ।
साकं मातृप्रमेयाभ्यां तद्वर्जं वाप्यनेकशः ॥ ६३६ ॥

ज्ञातं च गमयेन्मानं न चाप्युज्झति मानताम् ।
प्रत्यक्षपादोत्प्रेक्षेयमिदानीमुपपद्यते ॥ ६३७ ॥

किं चानधिगतग्राहि मानं नवनवं यतः ।
भैरवेच्छावशादेतद्विश्वं भाति तथा तथा ॥ ६३८ ॥

वस्तु प्रदर्शयन्मानं प्रवृत्तिं विदधत्स्फुटम् ।
प्रापयत्येव तद्वस्तु तथाभासनयोगतः ॥ ६३९ ॥

सदप्येकान्ततो नेदं नासच्चेत्यादिसंविदः ।
भान्त्येव परमार्थेन तदनेकान्तदृक्स्फुटा ॥ ६४० ॥

एको भावः सर्वभावस्वभावः
सर्वे भावा एकभावस्वभावः ।

अर्हद्वादः सोऽयमसमत्सुदृष्टौ
युक्तश्च श्रीसारशास्त्रेऽपि चोक्तः ॥ ६४१ ॥

इदं मानं मेयं तदिदमिति संख्यां कलयितुं
स्वरूपं वा शक्तः क इव जगतीत्येतदपि सत् ।
मतं वाचां पत्युर्भगवति चिदानन्दसुभगे
यतस्तूष्णींभावादपर इह कः किं प्रकुरुताम् ॥ ६४२ ॥

अहेतोर्भाने स्याद्यदि न तनुदिक्कालनियम-
स्ततो हेतोरीदृङ् नियम इति कस्यैव महिमा ।
स्वभावोऽयं हेतोरथ विवृतकण्ठं कथमसौ
न भावस्यैवोक्तो यमयति परे केन हि परः ॥ ६४३ ॥

स्वभावाच्चात्मासौ परमशिव इत्यागमकथा
निरुक्तो विश्वात्मा जगति निखिले जृम्भत इति ।
धरादेश्चानन्यो भवतु तदियं भूतचितिता
स वन्ध्यो दिक्कालैर्जननमरणापायरहितः ॥ ६४४ ॥

तदस्यायं लोकस्तदनु परलोकोऽप्ययमिति
ग्रहः कस्माद्धेतोः स्पृशति नहि तं कालकलना ।
ततः स्वातन्त्र्योद्यत्सुखरसपरानन्दमहिमा-
भवद्भस्मीभूताखिलकलुषपाशौघसुभगः ॥ ६४५ ॥

सांख्यदृक्पुनरिहैव भूयसा
चर्च्यते निखिलतत्त्वगोचरा ।
दृश्यते हि धरणीप्रभृत्यलं
तच्च सूक्ष्मतमकारणोत्थितम् ॥ ६४६ ॥

तद्गृहीतिकरणोद्यतं पुन-
र्बाह्यतः करणकं दशात्मकम् ।
आन्तरं त्रिविधमस्य कारणं
सौख्यदुःखपरिमोहदर्पणः ॥ ६४७ ॥

तादृशं त्रिगुणमेव यद्भवे-
त्तत्पुनर्जडतयाथ भेदतः ।

मूलकारणमपेक्षते परं
सा निशेयमिह भोग्यमुच्यते ।
तच्च भोक्तृपरतन्त्रतामयं
नो परस्परमुपैति भोक्तृताम् ॥ ६४८ ॥

भोग्यभोक्तृवपुरेकमेव नो
जाघटीति हि विरुद्धधर्मतः ।
तेन भोक्तृ चितिशक्तिमात्रकं
तच्चिदात्ममयतावशान्मनः ॥ ६४९ ॥

व्याप्तृ सर्वगतमीश्वरं कथं
भोक्तृतां व्रजतु भेदसंगताम् ।
तेन तन्निजवशित्वनिर्मितां
संकुचित्स्थितिजुषं दशां श्रयेत् ॥ ६५० ॥

अन्यकारणकलाद्यभावतः
सोऽयमस्य सहजो मलः स्मृतः ।
स त्रिधा समवभाति तद्वशा-
देष एव स पुमानुदाहृतः ॥ ६५१ ॥

भोक्तृभावपरतन्त्रावशा-
न्नान्तरीयकतयास्य कंचुकम् ।
भाति नैवमिति कालवित्कला-
रागसन्नियतिनामधेयकम् ॥ ६५२ ॥

यद्यात्मैष पुर्नानिरगलनिजस्वातन्त्र्यसंछादितं
स्वं रूपं विवृणोत्यलं निजबलात्तच्छुद्धवित्संभवः ।
कर्तृत्वं किल कार्यवर्गमखिलं बोधे निधाय स्वके
पश्यन्नीश्वरतां व्रजेदहमिदं सर्वं सदेत्युद्धुरः ॥ ६५३ ॥

ज्ञातृत्वं हृदयान्तरस्फुरितदृग्दृष्ट्वा स्फुटाभासिनि
ज्ञेये भेदतिरोधितां निजचितौ यस्मात्स संपश्यति ।
तेनास्येदमहंविदोः सरभसं भेदैक्यमाजग्मुषी
सामानाधिकरण्यधीः प्रकटयेत्सादाशिवीं संस्थितम् ॥ ६५४ ॥

ज्ञेयं कार्यं सर्वमन्तर्विबोधे
　　यावल्लीनं तावदुद्रिक्तवृत्तेः ।
बोधज्वालासञ्चयस्यान्तराले
　　तत्प्रस्त्यानं स्वं वपुः प्रोज्झतीव ॥ ६५५ ॥

इदभावः सोऽयं विगलितुमना नो विगलितो
　भवेत्प्राक्कक्ष्यामपि स समकान्तिस्तदधुना ।
अहंभागोद्रेके विधिरनवधिर्भावविसरे
　तदेषा शाक्ती भूरिषिरिति स्वसिद्धात्मनि परा ॥ ६५६ ॥

ईहते गलितुमन्वतो गलेत्तत्र पूर्वपररूपसंगतेः ।
शाक्तभूमिरखिलेयमुच्यते चित्रचिन्निचयचर्चिता सती ॥६५७॥

तत्त्वे तत्त्वे स्वेच्छया देवदेवः
　　सर्वां सर्वां भूमिमालम्बमानः ।
पूर्णात्मा पूर्णसंवित्स्वरूपः
　　श्रीमाञ्शास्त्रे भैरवोऽसौ निरुक्तः ॥ ६५८ ॥

शक्तिपातदृगियं निरुच्यते
　　मन्दमध्यपरतीव्रभेदतः ।
तत्परस्परभिदाभिरप्यलं
　　या स्वरूपपरिदृष्टिरात्मनः ॥ ६५९ ॥

ननु किं कदाचिदयमीश्वरो निजरूपं प्रकाशयति पूर्णचितिः ।
किं बा कदाचिदथ संवृणुते निर्हेतुको हि नियमः किल कः ॥

उक्तमत्र किल पूर्वमनन्तं
　　नान्यदस्ति नियमेषु निमित्तम् ।
लौकिकेष्वपि स एव महेश-
　　श्चित्रचित्रपरिभासनशीलः ॥ ६६१ ॥

तत्स्वातन्त्र्यादधिकमधुना नोत्तरं बम्भणीमः
　संवित्सिन्धोः प्रथितलहरीहर्म्यधाराधिरूढिः ।
शान्तिस्तस्यास्तदनु तदयं बन्धनाम्नापदिष्ट-
　स्तेनैवेत्थं परिगतरसो मोक्ष इत्युक्तरूपः ॥ ६६२ ॥

सदा कदाचिदधुना तदेत्यादि च संविदः।
तत्स्वातन्त्र्यावभासीयकालकेलिविकल्पनाः ॥ ६६३ ॥

न च कालकलाभिः स स्पृश्यते परमेश्वरः।
नहि तासां स्वतन्त्रास्ति स्थितिस्तत्कल्पनां विना ॥ ६६४ ॥

तेन स्वसृष्टे भावांशे स्वरूपात्मन्यपि स्फुटम्।
पारतन्त्र्यावभासोऽयं देवेनैवावभास्यते ॥ ६६५ ॥

पारतन्त्र्यं कलयति स्वतन्त्रः परमेश्वरः।
स्वातन्त्र्ये पारतन्त्र्ये च नान्यल्लक्षणमुच्यते ॥ ६६६ ॥

परिच्छिन्नप्रकाशो हि जडस्तेनात्र यः स्थितः।
परिच्छेदक एषोऽपि परिच्छेद्यो यदि स्फुटम् ॥ ६६७ ॥

तदस्य रूपग्रहणो न प्रकाशः प्रकाशते।
तथा हि बाह्यो भावांशः स्वयं नैष प्रकाशते ॥ ६६८ ॥

ज्ञानमर्थप्रकाशात्म तच्चानाभातमेव हि।
तस्यापि समवाय्यात्मा नैव भाति स्वरूपतः ॥ ६६९ ॥

तदीयकरणं नेत्रप्रभृत्यपि न भासते।
आलोकादेश्च विज्ञानादृते नैवावभासनम् ॥ ६७० ॥

ननु जातं यदि ज्ञानमर्थस्यासौ प्रकाशता।
शक्तिर्धर्मो यदि प्राप्तं सार्वज्ञ्यं विश्वमण्डले ॥ ६७१ ॥

अन्यदेवाथ तत्किंचित्प्रकाशत्वाभिशब्दितम्।
तन्मेयमातृमानेषु नैव कुत्रापि सङ्गतम् ॥ ६७२ ॥

ततश्चाप्रकटं विश्वं सर्वदैव भवेदिदम्।
अप्रकाशस्य भावस्य यदि च स्यात्प्रकाशनम् ॥ ६७३ ॥

तावतैवास्य हीयेत स्वरूपं परिहानितः।
ज्ञानोत्पत्तिश्च भावस्य स्वरूपस्थस्य चेत्प्रथा ॥ ६७४ ॥

अविशिष्टे स्वरूपस्थभावे विश्वस्य सा न किम्।
तस्मात्प्रकाशो विश्वस्य परिच्छेदकनिष्ठितः ॥ ६७५ ॥

तत्स्वातन्त्र्यावभासोत्थचित्राकारविभेदितः।
परिच्छेदक इत्थं चेत्परिच्छेद्यो भवेत्ततः ॥ ६७६ ॥

मूलक्षतिकरी सेयमनवस्था पतिष्यति ।
अतश्च सोऽपरिच्छिन्नः परिच्छेदक उच्यते ॥ ६७७ ॥

अकाल्यस्तेन शास्त्रेषु तत्र कालस्य गोचरः ।
तेनास्य वेद्यधर्मत्वं कालस्य परिभाषितम् ॥ ६७८ ॥

यदि कालश्च मातारं परिच्छिन्द्यात्तपो ध्रुवम् ।
मातृलग्नैव कालस्य स्थितिर्निर्वाहमिच्छति ॥ ६७९ ॥

न च मात्रन्तरं किंचित्संभवेदनवस्थितेः ।
तां हन्तुं वोपगम्योऽसौ माता कालकलोज्झितः ॥ ६८० ॥

य एव तु परिच्छेद्यो माता तल्लग्न एव चेत् ।
स कालो मातृमेयत्वे तद्ध्येकस्य कथं तव ॥ ६८१ ॥

भेदवादे हि भवतां निष्ठिता मतिरीदृशी ।
अभेदवादिनां नस्तु नैव काप्यस्ति खण्डना ॥ ६८२ ॥

विश्वं मातृमयं येषां माता विश्वमयस्तथा ।
तत्र कालकलाजालजम्बालैः परमेश्वरः ॥ ६८३ ॥

चितिशक्तिप्रकाशो हि मालिन्यमवलम्बते ।
अतस्तदा संवृतोऽसौ पश्चात्प्रकटरूपकः ॥ ६८४ ॥

इति तस्यैव जृम्भेयं तथात्वप्यपदेशिनी ।
कलनैवास्य सा काचित्स्वरूपामर्शनात्मिका ॥ ६८५ ॥

शिवयोगार्हमात्मानं यस्यामात्माभिमन्यते ।
यतो वैचित्र्ययोगेन तथात्मानं स मन्यते ॥ ६८६ ॥

शक्तिपातस्य तेनोक्ता नवधात्र व्यवस्थितिः ।
अन्यथा नेश्वरस्यास्ति रागो द्वेषोऽथ वा क्वचित् ॥ ६८७ ॥

येन क्वाप्येष नियतां स्वां शक्तिं पातयेद्विभुः ।
अनिमित्तस्तथा चायं शक्तिपातो महेशितुः ॥ ६८८ ॥

तेन रागक्षयात्कर्मसाम्यात्सुकृतगौरवात् ।
मलपाकात्सुहृद्योगाद्भक्तेर्भावाच्च सेवनात् ॥ ६८९ ॥

अभ्यासाद्वासनोद्भेदात्संस्कारपरिपाकतः ।
मिथ्याज्ञानक्षयात्कर्मसंन्यासात्काम्यविच्युतेः ॥ ६९० ॥

साम्याच्चित्तस्य सा शक्तिः पततीति यदुच्यते ।
तदसन्नु तत्रापि निमित्तान्तरमार्गणात् ॥ ६६१ ॥

अनवस्थातिप्रसङ्गसंभवाभावयोगतः ।
अन्योन्याश्रयनिःश्रेणिचक्रकाद्युपपाततः ॥ ६६२ ॥

अस्मिंस्तु पक्षे सर्वेषां प्रवादानामपि स्थितिः ।
युक्ता सर्वंसहे पक्षे न किंचित्किल दुष्यति ॥ ६६३ ॥

युक्तिः सुधीभिः स्वयमेव तत्र
शक्येत संयोजयितुं ततो न ।
पृथक्तया योजनमुक्तमत्र
यद्ग्रन्थतो विस्तार एष मिथ्या ॥ ६६४ ॥

उपजग्मुरतोऽनपेक्षिणीं
शिवशक्तिं न च तां विना भवेत् ।
अपवर्गपदं यतो मुधा
परशास्त्रेषु विमोक्षसंकथाः ॥ ६६५ ॥

शक्तिपातसमये विचारणं
प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित् ।
श्रीमदुत्पलगुरुर्न्यरूपयत्
तत्र तत्र निजशास्त्र ईदृशम् ॥ ६६६ ॥

तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।
यया यान्ति परा सिद्धिं तद्भावगतमानसाः ॥ ६६७ ॥

इत्थं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी ।
निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता ॥ ६६८ ॥

केवलं भेदवादान्ध्यस्थगितालसदृष्टिभिः ।
दुःसमर्थत्वमेतस्या नियमेन क्वचित्स्थितेः ॥ ६६९ ॥

पर्यालोच्यानिशं कर्ममलसाम्यप्रपाकतः ।
इत्यादिहेतुजालेषु वृथात्मा परिखेद्यते ॥ ७०० ॥

तत्तेषां नोपकाराय कुशकाशावलम्बनम् ।
तस्मात्स एव तादृक्षस्वस्वातन्त्र्योपबृंहितः ॥ ७०१ ॥

तदा तथा तथेत्यादिवैचित्र्येणावभासते।
तदित्थं सर्वदृष्टीनामत्रैव परमेश्वरे ॥ ७०२ ॥

अनुपवेश इत्यन्यैरलं वा युक्तिडम्बरैः।
तदित्थं देवदेवेन स्वस्वरूपमिहोदितम् ॥ ७०३ ॥

प्रत्यक्षं तत्र तन्मानं सर्वमानधुरोद्धुरम्।
एकमेवेदृशं मानमिति केचित्प्रपेदिरे ॥ ७०४ ॥

धूमादग्निरिति प्रायस्तस्यैवैतद्विजृम्भितम्।
यथा घटस्य पूर्वांशदृष्टैकपरिनिष्ठितः ॥ ७०५ ॥

माता स्फुटास्फुटाकारतावदर्थावलेहिनीम्।
स्फुटामेव मतिं मत्वा प्रत्यक्षत्वं प्रपद्यते ॥ ७०६ ॥

न चानुमानमन्त्यांशे संविदेकैव सा यतः।
धूमाध्यक्षप्रतीत्यन्तर्निविष्टाग्निप्रथा तथा ॥ ७०७ ॥

एकैव तावदर्थांशलेहिनी जायते मतिः।
तावत्यंशे स्फुटाकारा प्रत्यक्षमिति भाष्यताम् ॥ ७०८ ॥

यथा रत्नादिवैचित्र्यं तथा संस्कारसंस्थितेः।
नेत्रात्ममानसालोकविषयादिषु संविदि ॥ ७०९ ॥

प्रत्यक्षमेव संवित्तौ स्फुटत्वेनावभासते।
तथा तथाविधव्याप्तिधामसंस्कारसंस्थितेः ॥ ७१० ॥

अन्ते तथैव सा वित्तिर्धूमाग्न्याकाररूपिणी।
यथा च दृढसंस्काराः सोल्लेखाः सपदि स्वयम् ॥ ७११ ॥

रत्नादितत्त्वं पश्यन्ति विघ्नान्तरनिरोधितः।
तथा बुभुक्षितात्मानः शीघ्रमेवातिनिश्चितम् ॥ ७१२ ॥

अन्नादि गृह्णते भोक्तुं व्याप्त्याद्यव्यवधानतः।
तेन प्रत्युक्तमेव स्याद्यदाहुः परिकल्पनम् ॥ ७१३ ॥

अभ्यस्तेष्वविनाभावस्वभावव्याप्तिसंविदः ।
किं हि तत्कल्पनाव्याप्तिवित्तेरिति न मन्महे ॥ ७१४ ॥

आशूत्पत्तिवशादस्या न खल्वस्त्युपलक्षणम् ।
अनुमीयत एवं सा तदेव परिकल्पनम् ॥ ७१५ ॥

अहो स्वपक्षपातान्धाः स्वमप्युपगतं मुहुः ।
अमी विस्मर्तुमारब्धास्तार्किकम्मन्यबुद्धयः ॥ ७१६ ॥

क्षणापवर्गिणी बुद्धिः सर्वैव हि भवन्मता ।
उत्पत्तिमात्रयोगेन विषयस्यावभासिका ॥ ७१७ ॥

न क्षणाच्चापरं किंचिदाशुभावित्वमुच्यते ।
तत्सर्वमाशुभाव्येव विज्ञानमिति तत्त्वतः ॥ ७१८ ॥

सर्वत्र भावजातेषु भवेदनुपलक्षणम् ।
अथाविच्छिन्नदृष्टीनां द्राघीयःकालगोचरम् ॥ ७१९ ॥

ज्ञानं तेनापि तद्दृर्थो जन्ममात्रेण भास्यते ।
यच्चोत्पत्तिवशादेव विषयस्फुटतात्मकम् ॥ ७२० ॥

तस्य शीघ्रतरस्थास्नुभावो भेदावहः कथम् ।
यत्तत्किल ग्रहापेक्षं स्वप्रकाशमथापि सत् ॥ ७२१ ॥

अन्यत्रोपायतां याति विद्युद्दीपादिवत्तथा ।
तत्रैव चिरशीघ्रस्थभावो भेदाय भासते ॥ ७२२ ॥

न च क्वाप्यनुमानेषु व्याप्त्यादेर्ग्रहणं भवेत् ।
पुनः पुनः स्फुटीभावं याति येनोपलक्ष्यते ॥ ७२३ ॥

किं च क्रमिकधूमादिज्ञानमालात्मनि स्फुटम् ।
उदितापि कथं कुर्यादेकभावावभासनम् ॥ ७२४ ॥

अथान्त्यमनुसंधानज्ञानमेवं करिष्यति ।
तदपि प्राक्स्थसंवित्तिसमं भिन्नं कथं तथा ॥ ७२५ ॥

तेन प्राक्तनविज्ञानमालामन्वास्यते यदि ।
तदसन्नहि संधानं नष्टायामुपपद्यते ॥ ७२६ ॥

अथ स्मरणमेवेह संधानं संविदां भवेत्।
तदप्यनुभवाभावे कथं नाम भविष्यति ॥ ७२७ ॥

न च ज्ञानेष्वनुभवो युज्यते संविदः क्वचित्।
युगपज्ज्ञानयुगलं नास्तीति हि भवन्मतम् ॥ ७२८ ॥

ज्ञानज्ञेयात्मता दृष्टा युगपत्स्थितताजुषोः।
न तु पूर्वापराकारसमुत्पन्नविरोधिनोः ॥ ७२९ ॥

तस्माद्व्याप्त्यनुसारावभासपूर्वापि या मतिः।
तत्राप्यक्रममेवेदं प्रत्यक्षमानवेदनम् ॥ ७३० ॥

यथा झटिति सौषुप्तप्रबुद्धः प्रोन्मिषद्दृशिः।
प्रत्यक्षमिति भावांशध्यामलत्वनिवृत्तये ॥ ७३१ ॥

नेत्रसंमार्जनादीनि विदधन्नाभिमन्यते।
भावाननुमिनोमीति तथैवात्रापि बुद्धचताम् ॥ ७३२ ॥

यथा च घनसौषुप्तमोहाव्युत्थितदर्शनः।
स्वात्मानमथ तत्स्थानं विस्मरत्येव तत्क्षणम् ॥ ७३३ ॥

अथ प्रयत्नसंभारप्रबुद्धविमलस्वदृक्।
सोऽहमस्मीति मन्वानः संवित्तेः परमार्थतः ॥ ७३४ ॥

तत्र सर्वत्र नाथोऽयं भैरवश्चित्स्वरूपकः।
स्वातन्त्र्यात्स्वं वपुर्यावद्गूहते विवृणोति च ॥ ७३५ ॥

तावदज्ञानमेतस्य विज्ञानं चोपजायते।
तच्च स्फुटतया सर्वप्रत्यक्षमिति मन्यताम् ॥ ७३६ ॥

घटशब्दे श्रुते या च पृथुबुध्नोदरादिधीः।
तत्रापि खलु संकेतस्मरणादि तथाविधम् ॥ ७३७ ॥

यथा रत्नपरीक्षायां स्वां संवित्तिं स्फुटात्मिकाम्।
संविदन्तरसंघातैस्तिष्ठति प्रतिबोधयन् ॥ ७३८ ॥

ततः प्रबुद्धचरमस्फुटसंवित्तियोगतः।
रत्नतत्त्वं विभात्यत्र नोपयोगोऽन्यसंविदाम् ॥ ७३९ ॥

ताः परं तत्प्रबोधाय कारणत्वं वितेनिरे।
तस्यैवाभासयोगे हि न तासामुपयोगिता ॥ ७४० ॥

बालवैकटिकज्ञानदृष्टान्तादीदृशात्स्वयम् ।
शाब्देऽपि खलु विज्ञाने स्फुटैवैका प्रकाशधीः ॥ ७४१ ॥

अतस्तथाविधे शब्दे श्रुते यत्समनन्तरम् ।
अर्थावभासने सेयमियती मतिरीदृशी ॥ ७४२ ॥

अर्थः स तावांस्तत्रास्ते घटपूर्वापरांशवत् ।
नन्वसौ घट एकः स्यादवयव्यात्मकस्तथा ॥ ७४३ ॥

न तु शब्दार्थयोरैक्यं तत्कथं साम्यमीदृशम् ।
अहो भेदग्रहाभ्यासतिमिराबिललोचनः ॥ ७४४ ॥

सद्युक्त्यञ्जनयोगेऽपि न दृष्टिं विमलां गतः ।
अभिन्नो भगवानेष भैरवो भोग्यभोक्तृताम् ॥ ७४५ ॥

आत्मन्येवानुसंधाय सर्वदा पूर्णविग्रहः ।
इति प्रसाधिते पूर्वं कः प्रश्नस्यास्य संभवः ॥ ७४६ ॥

तदेवमुपमानादावपि मानान्तरे स्फुटम् ।
संवित्प्रत्यक्षरूपैव सर्वत्र प्रतिभासते ॥ ७४७ ॥

अन्धोऽपि स्पर्शशब्दाद्यैस्तत्तद्रूपं विलोकयन् ।
स्फुटतामेव तां तावत्संवेत्ति स तथाविधाम् ॥ ७४८ ॥

एवं जातिजडा रूपस्पर्शाद्यैरभिमन्वते ।
स्फुटमेव हि भावांशं तेषां नाज्ञातधीः क्वचित् ॥ ७४९ ॥

इयं लावण्यसरसी तारुण्योद्यानकन्दली ।
इति तुष्यति जात्यन्धस्तदङ्गपरिमर्शनात् ॥ ७५० ॥

अहो नु सदलङ्कारं गायतीति जडो जनः ।
गातुर्मुखं विलोक्यैव तावता परितुष्यति ॥ ७५१ ॥

इति प्रत्यक्षमेवैकं निःसपत्नं विजृम्भते ।
तदस्य फलचिन्तादि कर्तुं प्रस्तूयते मनाक् ॥ ७५२ ॥

तदेव खलु विज्ञानं परिमर्शरसात्मकम् ।
तस्माद्भेदकथा नैव फलं प्रति सुसंगता ॥ ७५३ ॥

हानादिधीः फलं वास्तु तस्या अप्यथ भासनात् ।
यदि वा स्वप्रकाशैव संवित्तिः पारमार्थिकी ॥ ७५४ ॥

तदेव पर्यन्तफलं सर्वत्रैव सुनिश्चितम् ।
ह्लादादिकं फलं मुख्यं यत्सर्वत्रेह गीयते ॥ ७५५ ॥
तत्स्वसंविदि विश्रान्तिमभ्येति भरितात्मनि ।
तदेवमिदमध्यक्षं सर्वतः प्रविजृम्भते ॥ ७५६ ॥
एतदभ्यासनिष्ठस्य केव सिद्धिर्न जायते ।
ब्रह्मादिभाषितश्रौतप्रौन्मुख्येन कलादिकात् ॥ ७५७ ॥
दूराच्छ्रवणविज्ञानमचिरात्संप्रवर्तते ।
मनोदृष्टेऽपि भावांशे स्फुटवृत्त्युदयो ह्यलम् ॥ ७५८ ॥
स्वविमर्शबलाक्रान्ते किं चित्रं यदि जायते ।
स्पन्दशास्त्रे तथा चोक्तं सावधानेऽपि चेतसि ॥ ७५९ ॥
भूयः स्फुटतरो भातीत्यलं बहुलविस्तरैः ।
इत्थं प्रत्यक्षमेवेदं विश्वं यत्परमेशितुः ॥ ७६० ॥
तत्ततोऽप्यविभिन्नस्य मातृवर्गस्य तत्तथा ।
न च प्रतीतिसांकर्यं तथा भासनयोगतः ॥ ७६१ ॥
प्रत्यक्षेऽपि समे साम्यं नो घटाघटसंविदोः ।
इत्थं प्रत्यक्षमेवेदं निःसपत्नं विजृम्भते ॥ ७६२ ॥
ततो न भिद्यते चार्थः प्रत्यक्षाद्वैतमीदृशम् ।
इदं सन्धानकलिकापरिनिष्ठितबुद्धिना ॥ ७६३ ॥
आचार्यनरसिंहेन प्रत्यक्षाद्वयमुच्यते ।
अनुमानप्रमाणत्वं विश्वस्मिन्कैश्चिदुच्यते ॥ ७६४ ॥
तथा हि देवः सर्वज्ञो निर्विकल्पस्वभावकः ।
स चाध्यक्षस्वभावोऽपि नायाति व्यवहार्यताम् ॥ ७६५ ॥
अविकल्पे विकल्पात्मा व्यवहारः कथं किल ।
विकल्पेन च सर्वोऽयं व्यवहारोऽवतन्यते ॥ ७६६ ॥
स एव चानुमानं स्यात्तस्यैताः परिकल्पनाः ।
पक्षतद्धर्मतद्व्याप्तितत्प्रतीत्यादयोऽखिलाः ॥ ७६७ ॥
वस्तुतस्त्वेक एवासौ प्रत्ययः पारमार्थिकः ।
नन्वध्यक्षवियोगे स्यादनुमानं कथं यतः ॥ ७६८ ॥

तत्प्रत्यक्षपरिच्छिन्नप्रतिबन्धनिबन्धनम् ।
सत्यं किंतु य एकोऽसौ देवः सर्वज्ञतास्पदम् ॥ ७६६ ॥

तदावेशवशादेषा व्याप्तिर्बोधेऽवकल्पते ।
अन्यथा वह्निधूमादि तदभावादिवेदनम् ॥ ७७० ॥

अन्वयव्यतिरेकात्म न स्याद्युगशतैरपि ।
अत एव ।ह मुख्यस्य मानस्य सदशत्वतः ॥ ७७१ ॥

अनुमानमिति प्रोक्तं व्यवहारप्रवर्तनम् ।
तदेवमेते मातारः सर्वत्रेश्वरसंविदम् ॥ ७७२ ॥

उपजीवितुमायान्ति मातृभावं न चान्यथा ।
अज्ञो हि जन्तुवर्गोऽयं कथं तदनिवेशतः ॥ ७७३ ॥

ज्ञस्वरूपत्वमाप्नोति तद्विना मातृता कुतः ।
तस्मात्संविदि योगोऽस्य स च नानेन दुर्लभः ॥ ७७४ ॥

वस्तुतो हि न कश्चित्स संविन्नाथो ह्यसौ तथा ।
तदेवंपक्षमीशानप्रत्यक्षाक्षिप्तवृत्तिकम् ॥ ७७५ ॥

सापेक्षं परतन्त्रे च पाशवं मानमुच्यते ।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥ ७७६ ॥

ईश्वरप्रेरितो यातीत्यत एव मुनिर्जगौ ।
एवमीश्वरसापेक्षानुमानैकप्रमाणता ॥ ७७७ ॥

निर्णीता लोलटाख्येन गुरुणा लोकसंमता ।
अन्यस्तद्गृह्य एवाह सत्यं वाध्यक्षसंविदः ॥ ७७८ ॥

व्यवहारेऽस्ति मानत्वमनुमा तु कथं प्रमा ।
सुलभव्यभिचारायामनुमायां विनिश्चितः ॥ ७७९ ॥

विशंश्रमीतु को नाम परीक्षकतया स्थितः ।
अन्वयो व्यतिरेकश्च यः सपक्षेतरस्थितिः ॥ ७८० ॥

आदिदृष्टस्तदात्वे नो विनिश्चयविधायिनौ ।
यैस्तु तस्मादपास्येत पक्षधर्मादिदूषणात् [णम्] ॥ ७८१ ॥

वर्चस्ककूटे शुद्धिं ते कुर्युः पांसुकणोच्चयैः ।
तस्मात्संशय एवायं प्रवृत्त्यङ्गतया स्थितः ॥ ७८२ ॥

स एव भेदाभासित्वान्मायेति परिभाष्यते।
मायैव च पशूनां स्यान्मानं मायाचिदात्मकम् ॥ ७८३ ॥

तर्को वाप्येकपक्षांशस्थितिसंभावनात्मकः।
अर्थानर्थबलीयस्त्वात्प्रवृत्तौ [त्त्यै] वा निवृत्तये ॥ ७८४ ॥

प्रभविष्णुः स एवेति किमन्यैर्मानडम्बरैः।
प्रमाता शिव एवैको यस्येदं स्वाङ्गमीदृशम् ॥ ७८५ ॥

मेयत्वेन समाभाति सर्वतो निश्चयात्मकम्।
अन्यः पुनः पशुः सर्वः संशयध्वान्तमध्यगः ॥ ७८६ ॥

सौदामनीद्युतिप्रायसंवित्समनुरञ्जितः।
पक्षद्वितयसत्यान्यभावान्यतमनिश्चयम् ॥ ७८७ ॥

विन्दान एव लभते नात्र रूढिं कथञ्चन।
तदेवं तर्कतः सर्वो व्यवहार इति स्थितम् ॥ ७८८ ॥

अशुद्धा सैव विद्येयमिति मानं विधीयताम्।
अशुद्धिरियती तस्या यद्वस्त्वननुसारिता ॥ ७८९ ॥

अन्ये त्वनर्थिनो नास्ति प्रवृत्तिरिति निश्चिताः।
अर्थित्वमेव सचिवमित्येवं पर्यचूचुदन् ॥ ७९० ॥

रागस्य मानतामित्थं प्राहुरन्यात्मवेदिनः।
अन्ये त्वाहुः संशयोऽपि न नामानिश्चिते गजे ॥ ७९१ ॥

शक्तत्वे सति जायेत रागो वापि प्रवृत्तये।
ततः स्वां कर्तृतामीषदालोच्य जनताः सदा ॥ ७९२ ॥

प्रवर्तन्त इतीत्थं स्यात्कलाया एव जृम्भितम्।
तेनार्थः स तथा वास्तु मा वाभूत्स्वात्मनस्तया ॥ ७९३ ॥

मन्वानः कर्तृतामेष सर्वत्रैव प्रवर्तते।
अन्ये त्वाहुरनादिर्यो व्यवहारः क्रियात्मकः ॥ ७९४ ॥

नियतिः सैव विश्वस्य प्रवर्तकतया स्थिता।
स एव चागमो नाम वृद्धव्यवहृतिक्रमः ॥ ७९५ ॥

ततः समग्र एवायं धर्मादिपरिनिश्चयः।
न प्रत्यक्षान्नानुमानाद्‌भूयसा विप्रलम्भकम्॥ ७९६॥
मतिरभ्येति विश्वासं परीक्षापक्षशालिनाम्।
अन्नं क्षुधं शमयते तृषं वारीति बालकाः॥ ७९७॥

अन्यतः परिनिश्चित्य तथात्वानतिशङ्किनः।
अन्यदाक्षानिकेऽप्यर्थे तत एवाद्यमानतः॥ ७९८॥
लभन्ते निश्चयं सम्यगागमाख्यात्परीक्षकाः।
तथा च मुनिराहेदं पुण्यं पापमिति द्वये॥ ७९९॥
शास्त्रप्रयोजनं स्वल्पं नागमस्य प्रयोजनम्।
आगमो हि न नामैव पुस्तकग्रन्थसंचयः॥ ८००॥
केवलं प्रथिताभिख्योऽनादिर्वेदादिकः किल।
किं तु प्रसिद्धिरेवासौ सा च शब्दस्वरूपिणी॥ ८०१॥
या सर्वदर्शनेष्वेव न जात्वायात्यपोह्यताम्।
छागश्चैत्यो जटा भस्म भिक्षा दण्डः कमण्डलुः॥ ८०२॥
जालं तप्तशिला श्मश्रुकेशलोमविलुञ्चनम्।
अग्निरेधा इष्टकौघचयनं गृहमेधिता॥ ८०३॥
इत्यादिसर्वशब्दानां प्रसिद्धिप्रक्रमादृते।
कोऽभ्युपायोऽर्थतः क्लृप्ततदन्यार्थावबोधयोः॥ ८०४॥
इत्थमागम एवायं प्रमाणमिति धीधनैः।
उक्तं सत्यैव वागैशी प्रसिद्धिरविगानतः॥ ८०५॥
प्रसिद्ध आगमो लोके युक्तिमानथवेतरः।
विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमिति तत्स्थितम्॥ ८०६॥
प्रामाण्यं नियतेः श्रीमद्‌भूतजान्तनिवासिनाम्।
अन्ये त्वाहुर्विशेषोऽयं कालो नामाभिवर्तते॥ ८०७॥
स्फुटभावस्वभावोऽसौ वर्तमानोऽभिवर्तते।
वृत्तस्फुटस्वभावांशस्तदा त्वस्फुटतामयः॥ ८०८॥
भूतः कारणक्लृप्त्या तु भाव्यसौ परिकल्प्यते।
स चायं न स्वतन्त्रोऽस्ति कश्चिदन्योन्यसंश्रयात्॥ ८०९॥

अनवस्थानतो रूपपरावृत्त्यवलोकनात् ।
इयत्तारूढ्यभावाच्च ।मातृमेयोभयाश्रयात् ॥ ८१० ॥

निरुपाधिकतद्रूपप्रतिभानवियोगतः ।
एकानेकध्रुवानित्यस्वरूपानुपपत्तितः ॥ ८११ ॥

एकस्यैकोपधेरैक्यात्तिरोधे(?)रुपधेरपि ।
क्रियायाः स्वगते भेदे कालस्यानुपयोगतः ॥ ८१२ ॥

तत्कृतेऽन्योन्यसंश्रित्यान्यकृतेऽप्यनवस्थितेः ।
औपाधिकभिदावृत्तेरसत्यत्वादवास्तवात् ॥ ८१३ ॥

कार्यस्यानुपपत्तित्वादेकस्यानुपयोगतः ।
चितश्च स्फुटतादत्तवर्तमानसदात्वतः ॥ ८१४ ॥

भूतभाविलयात्तस्माद्वर्तमानलयादपि ।
चिन्नाथ एव देवोऽसौ कालमाभासयत्यलम् ॥ ८१५ ॥

तदस्य कालाभासाख्या चित्स्वरूपस्य संसृतिः ।
स्वभाव[स्वाभास]गर्भा भावेषु भावाभावमयी स्वके ॥ ८१६ ॥

रूपे स्थितिः प्रमातृत्वसमुल्लासोऽभिधीयते ।
इदं न यदहं चाहं यन्नेदमिदमप्यदः ॥ ८१७ ॥

यन्नेदमिति चित्रेयमभाव[माभास]स्यैव मानता ।
परा प्रमातृता यासौ शुद्धा तस्यां पृथक्स्थितिः ॥ ८१८ ॥

न मानमस्तीत्यत्रांशे किं तया प्रविविक्तया ।
यस्तु सांसारिको मातृभावः सर्वोऽयमीदृशः ॥ ८१९ ॥

तत्राभाव[स]स्य मानत्वं स च कालप्रसादतः ।
तथा हि .परिपूर्णोऽसौ सर्वसर्वात्मरूपधृत् ॥ ८२० ॥

क्व माता क्व च वा मानं क्व च मेयोऽवतिष्ठताम् ।
मात्रादीनां हि सत्यत्वे न स्यादापेक्षिकी स्थितिः ॥ ८२१ ॥

मेयादेव च मात्रादेर्भावो जातु प्रकल्पते ।
अन्योन्यरूपस्यालाभे लाभे वा तदयोगतः ॥ ८२२ ॥

सर्वत्रातिप्रसङ्गाच्च सर्वज्ञत्वादियोगतः ।
युगपच्चाप्यनुल्लासात्तत्त्वस्यानुपकारिणाम ॥ ८२३ ॥

अन्यमेयादिजनिते मातृत्वादौ तदन्यतः ।
तद्भावस्याप्यनुत्पन्नसमत्वेनैव संस्थितेः ॥ ८२४ ॥

तस्मात्पूर्णश्चिदात्मासौ शिवः स्वांशं विखण्डयन् ।
नाहमित्यादिभेदांश इदमप्यवकल्पयेत् ॥ ८२५ ॥

तदन्यसर्वपूर्णत्वमहमात्मनि तावति ।
ततोऽन्यतोऽपि संहर्ता जायते नाहमित्यपि ॥ ८२६ ॥

उभौ ताविदमंशौ चाप्यपोहति परस्परम् ।
बुद्धिस्थमिदमंशं स्वं स्वाहमंशे तिरोदधत् ॥ ८२७ ॥

आस्ते न द्रावयत्येनं वस्त्रावृतघटादिवत् ।
तदेवं बुद्धिसंस्थात्तु समयाप्रथितादथो ॥ ८२८ ॥

इदमन्तरसंघातादहमंशव्यपोहिनः ।
अहमंशादिदन्तौघव्यपोहादहमन्तरात् ॥ ८२९ ॥

व्यपोहात्स्वाहमोऽन्यान्याहंव्यपोहस्य भासनम् ।
षड्देवता, शून्यरूपा यदाश्रित्य प्रवर्तते ॥ ८३० ॥

तदेवेदमिति ज्ञानं विकल्प इति गीयते ।
स कालः कल्यते येन विश्वं निजकलोदयात् ॥ ८३१ ॥

तदत्रांशे य एषोऽस्ति भासांशः स्वप्रकाशकः ।
भावरूपतया सोऽयं सर्वानुप्राणनात्मकः ॥ ८३२ ॥

न मातासौ न वा मानं न च मेयं निरुच्यते ।
यस्त्वसौ शून्यतायोगादभावो रुद्रदैवतः ॥ ८३३ ॥

स एव मानतामेति यद्योगान्मातृभावि[व]तः ।
मानाच्च न पृथङ् मेयमित्येवमुपपादितम् ॥ ८३४ ॥

इत्थं कालस्य मानत्वं प्रतिपेदेऽत्र कैश्चन ।
ये श्रीमद्भूवतीत्याख्यगुरुपादोपसेविनः ॥ ८३५ ॥

तदित्थं पुंसि चिद्धर्मविभवामोदशालिनि ।
मातृत्वदायि यत्प्रोक्तं षट्कं कञ्चुकसंज्ञितम् ॥ ८३६ ॥

तदेकैकस्य मानत्वं केचन प्रतिपेदिरे ।
अन्ये त्वेकस्य सर्वान्यसचिवस्येति मन्वते ॥ ८३७ ॥

अन्ये कदापि कस्यापि कथंचित्क्वचनेत्यपि ।
अन्ये द्वयोर्द्वयोरन्ये त्रिकद्वयनियोगतः ॥ ८३८ ॥

अन्योन्यानुग्रहादन्ये बोधेनान्योन्यतोऽपरे ।
अन्ये तु गुणसाम्यात्मप्रकृतिमेव मानताम् ॥ ८३९ ॥

मुख्यत्वेन विदुः सुप्तमत्तमूर्छादिदर्शनात् ।
स यत्रैव प्रमातायं यतः सुप्त इव स्थितः ॥ ८४० ॥

सैवास्य मातृता मानमेययोरप्रवेदनात् ।
अन्योन्यमविकार्यत्वात्प्रसुप्तेऽपि तथाविधे ॥ ८४१ ॥

केवलं प्रकृतिः सेयं जानामीत्यभिमन्यते ।
तत्र मुख्यं तु तन्मानं यत्पुंसैवानुदर्शनम् ॥ ८४२ ॥

तच्च शुद्धं निर्विकारं सदसद्रूपतोज्झितम् ।
इत्थं केऽप्यभिमन्यन्ते सांख्यकञ्चुकसंश्रयात् ॥ ८४३ ॥

वध्याभिधानस्य गुरोर्गृहे ज्ञानोपजीविनः ।
अन्ये धीभूमिमेवाहुर्दृष्टृदृश्योपरागिणीम् ॥ ८४४ ॥

प्रमाणं पारमर्षेयाः केचित्तद्वृत्तिसंचयम् ।
धर्मादिकाष्टसंख्यातं धर्मजातं परे विदुः ॥ ८४५ ॥

अन्येऽहंकारमेवाहुः केचिद्धियमथो मनः ।
केचित्त्रितयमेवेदं समं सर्वत्र मन्वते ॥ ८४६ ॥

अन्ये दशानामेकैकमिन्द्रियाणां प्रपेदिरे ।
केचित्समस्तान्येतानि सर्वत्राकूतवृत्तितः ॥ ८४७ ॥

अन्धस्यापि हि तत्किंचिद्रूपायतनमस्ति यत् ।
विकारमेकश्रोत्रस्पृगक्षान्तरसमस्थिति ॥ ८४८ ॥

प्रभातं प्रविलीनाभ्रनभोमण्डलमण्डितम् ।
इत्याकर्ण्य परां तुष्टिं यात्यन्धो हैमने दिने ॥ ८४९ ॥

यद्यप्यनुमिमीतेऽसौ शीतवारणजं सुखम् ।
तथाप्यस्य स्वसंवित्तिर्न रूपानवभासिनी ॥ ८५० ॥

अन्ये तन्मात्ररूपाणां मानत्वं प्रतिपेदिरे ।
चक्षूरश्मिस्त्वसंस्पर्श इत्यादिविधियोगतः ॥ ८५१ ॥

अदृश्यत्वं चक्षुरादेरत एवोपपद्यते ।
योगिनः प्रत्यदृश्यत्वं जातुचिन्नोपपद्यते ॥ ८५२ ॥

अन्ये तु स्थूलभूतानां ज्योतिषां मानतां जगुः ।
मेयस्यापि प्रमाणत्वमपरे प्रतिपेदिरे ॥ ८५३ ॥

यतो भवति मातृत्वं तत्प्रमाणमिति स्थितिः ।
तद्घटाद्यैश्च यत्तस्मात्तेऽपि मानमिति स्मृताः ॥ ८५४ ॥

लौकिको व्यपदेशश्च नैव वस्त्वनुसारतः ।
स हीच्छामात्रक्लृप्तत्वात्प्रायेणैवौपचारिकः ॥ ८५५ ॥

कथं जानासि भोः सोऽहं जानामीति च चोदितः ।
घटेनानेन दृष्टेन जानामीत्यभिभाषते ॥ ८५६ ॥

तस्मान्मेयेऽपि मानत्वं नहि नाम न लौकिकम् ।
अभेदवादे मूलस्थे विरोधोऽपि न दूषणम् ॥ ८५७ ॥

ये तु प्रमाणमाहुस्तत्सामग्रीं तैरपि स्फुटम् ।
अर्थादिर्मानताभीष्टा सा सङ्गेऽप्यन्यथा कुतः ॥ ८५८ ॥

अन्ये तु सर्वस्यैवेयत्तात्तभेदस्य मानताम् ।
क्रमोदितां हि सर्वत्र क्वचिच्चाप्यक्रमोदिताम् ॥ ८५९ ॥

क्वचित्क्रमाक्रमग्रासपरिपूर्णत्वबन्धुराम् ।
मन्वते तन्मतं तावद्दिङ्मात्रेणोपदर्श्यते ॥ ८६० ॥

प्रथमं मेययोगेन झटिति प्रतिभासिना ।
अन्यार्थदृश्यभिप्रायप्रच्छन्नेनैव सर्वतः ॥ ८६१ ॥

मातृत्वं चरमं तत्र चक्षुषः प्रविजृम्भणम् ।
ततो मनोऽहंधीवर्गविजृम्भान्तः समुज्ज्वलम् ॥ ८६२ ॥

ततः पौंस्नाभिसंशुद्धसंविदुल्लासशालिता ।
ततः कालकलारागयत्यविद्यानिशाः क्रमात् ॥ ८६३ ॥

अन्यथा वा समं वापि द्वन्द्वयोगेन वा त्रिशः ।
सर्वशो वा चतुष्पञ्चयोगेनाप्याणवे पदे ॥ ८६४ ॥

अभावकर्तृतासङ्गसिद्धितर्काख्यसंशयः ।
तत्रापि ननु जायन्ते तत्तत्क्रमविचित्रिताः ॥ ८६५ ॥

तत्पृष्ठे चाविकल्पासौ शुद्धैश्वर्यावभासिका ।
विद्या प्रमाणतामेति पर्यन्तप्रमितिस्थितौ ॥ ८६६ ॥

ततः सदाशिवोदारज्ञानेच्छाशक्तिसंश्रये ।
स माता पूर्णतामेति शक्त्यन्ताध्वसुनिर्वृतः ॥ ८६७ ॥

इत्थं पूर्णं प्रमातृत्वं यतः समवभासते ।
तदन्यतमभागांशतिरोधानवियोगजाः ॥ ८६८ ॥

संविदः स्फुटतान्यत्वभेदान्निःसंख्यतां गताः ।
अत एव ह्यजानानैः शिवशास्त्रोदितां स्थितिम् ॥ ८६९ ॥

स्फुटास्फुटादिसंवित्सु स्मृत्यस्मृत्यादिगोचरे ।
सौषुप्तादिषु शीघ्रत्वे युक्त्यामर्शाद्यसंभवात् ॥ ८७० ॥

मनोवधानं संस्कारो धर्माद्यदृष्टकल्पनम् ।
इत्येते हि स्फुटं शब्दा नात्र कोऽर्थस्तत्रि···मा ॥ ८७१ ॥ ?

ऊर्ध्वोर्ध्वतत्त्वव्रातस्य मानत्वे च निरूपिते ।
अधराधरतत्त्वांशो मेयतामवलम्बते ॥ ८७२ ॥

न चात्रास्ति क्रमः कश्चिद्व्यवधाने हि संभवात् ।
नहि विद्या न बौद्धी तामालोचयति संविदम् ॥ ८७३ ॥

विद्या विवेक्त्री प्रोक्ता हि बुद्धिपृष्ठसमाश्रिता ।
प्रकाशात्मवपुर्बाह्यमक्षमालोचनात्मकम् ॥ ८७४ ॥

संकल्पार्थं मनः प्राहुरभिमन्त्रीमहङ्कृतिम् ।
निश्चेत्रीं च धियं तत्र विद्यां चापि विवेचिकाम् ॥ ८७५ ॥

तत्रैव रञ्जकं रागं कलां शक्तत्वदर्शिनीम् ।
कालं व्यवच्छित्कर्तारं नियतिं च नियामिकाम् ॥ ८७६ ॥

आमृशन्तीमन्यमातृसाधारण्यावभासिकाम् ।
ग्राह्यमण्डलतद्ग्राहिनानारूपावमर्शिनीम् ॥ ८७७ ॥

मायां पूर्णत्वसंभोगप्रच्युतिक्षोभकारिणीम् ।
सद्विद्यां पूर्णविश्रान्तिदायिनीं सुशिवात्मिकाम् ॥ ८७८ ॥

ज्ञाननिर्भरभावांशस्वरूपपरिमर्शिकाम् ।
इच्छाशक्तिं प्रमात्रंशपूर्णभावावभासिकाम् ॥ ८७९ ॥

आश्रित्य परिपूर्णोऽयं मातृभावो विजृम्भते ।
प्रकाशालोचने पूर्वं संकल्पाभिमते ततः ॥ ८८० ॥

निश्चयानुदृशौ पश्चाद्विवेकासङ्गिताद्वयम् ।
कर्तृतास्थाव्यवच्छेदः साधारण्यावभासनम् ॥ ८८१ ॥

नानाविमर्शाप्रक्षोभपूर्णमेयप्रवेदनम् ।
पूर्णमातृत्वसंवित्तिर्भैरवीभाव एव च ॥ ८८२ ॥

इत्थं षोडशधा मेयमयं यावत्प्रकाशयेत् ।
तावद्विज्ञानचन्द्रोऽसौ प्रोक्तो द्व्यष्टकलास्थितिः ॥ ८८३ ॥

अनुत्तरा स्थितिः पूर्वमानन्देच्छेशनान्यतः ।
उदयश्चोनतावेश इति षट्कं व्यवस्थितम् ॥ ८८४ ॥

अनुत्तरात्समारभ्य ज्ञानशक्त्यन्तमीदृशम् ।
इच्छैव तु क्रियाशक्तिमीशनेन समास्थिता ॥ ८८५ ॥

प्रकाशस्थितिलेशांशं गृह्णती षष्ठतां गता ।
इच्छादि यच्च तत्पूर्वानुत्तरानन्दसंगतेः ॥ ८८६ ॥

तदादिश्लेषयोगेन संध्यक्षरचतुष्टयम् ।
ततः स्वरूपसंवित्तिलाभाद्बिन्द्वादिका स्थितिः ॥ ८८७ ॥

ततः समग्रसंदर्भभरिताकाररूपिणि ।
विसर्गः किल शाक्तोऽसौ विक्षेप इति यः स्मृतः ॥ ८८८ ॥

विसर्गस्यैव विश्लेष इति सप्तदशी कला ।
क्वचिदष्टादशी सैव पुनः प्रक्षोभयोगतः ॥ ८८९ ॥

अनुत्तरस्याकारस्य परभैरवरूपिणः ।
अकुलस्य परा येयं कौलिकी शक्तिरुत्तमा ॥ ८९० ॥

स एवायं विसर्गस्तु तस्माज्जातमिदं जगत् ।
तस्य प्रक्षोभयोग्यत्वं प्रक्षोभकलनोदयः ॥ ८९१ ॥

प्रक्षोभपूर्णताभावात्तदकुलक्रमोनता ।
इति षट्कस्वरूपात्मविमर्शान्दोलनोदितम् ॥ ८९२ ॥

अनुत्तरस्वभावत्वादाद्यस्यैव विजृम्भितम् ।
स एव भगवानन्तर्नित्यं प्रस्फुरदात्मकः ॥ ८९३ ॥

अन्तःस्थसर्वभावौघपूर्णमध्यमशक्तिकः ।
स्वेच्छाक्षोभस्वभावोद्यज्जगदानन्दसुन्दरः ॥ ८९४ ॥

नित्यं स्फुरति संपूर्णविसर्गरससुन्दरः ।
शिवशक्त्योः स संघट्टः स्नेह इत्यभिधीयते ॥ ८९५ ॥

अत्रैव पूर्णवैसर्गपदे लब्धुं प्रवेशनम् ।
लेहनामन्थनेत्यादिसंप्रदायमुपासते ॥ ८९६ ॥

तथाहि मध्यमां नाडीमधिष्ठायाखिलं वपुः ।
प्राणयत्परमं तेजः प्रक्षुब्धमृतुमाल्य[मद्य]तः ॥ ८९७ ॥

विसृष्टिरूपतां गच्छेद्यात्यानन्दचमत्क्रियाम् ।
अपूर्णा केवलं सा तु पूर्णा तु भगवन्मयी ॥ ८९८ ॥

तेन वैसर्गिकी शक्तिरेकैवेयं प्रजृम्भते ।
विसर्ग एव प्रक्षुब्धः प्रयत्नद्विगुणत्वतः ॥ ८९९ ॥

हकारो नाम विश्वेषां व्यञ्जनानां प्रसूतिकृत् ।
स एव च पुनर्बिन्दुयोगात्स्वामेव भूमिकाम् ॥ ९०० ॥

अनुत्तरामाश्रयते सोऽहंभाव इहेष्यते ।
अत्रैवावर्णजः काख्यस्तदन्यश्च इवर्णजः ॥ ९०१ ॥

तत एव हि रेफांशच्छायोपाधेर्ऋवर्णतः ।
टवर्गस्तत एवाथ धराच्छायोपधिक्रमात् ॥ ९०२ ॥

तवर्गस्तत्परः पश्चादुवर्णाद्यलाश्च वः ।
इवर्णवर्गाच्चोवर्णात्क्रमेणेत्यत एव हि ॥ ९०३ ॥

अन्तःस्था इत्यशीताश्च इवर्णाद्विप्रभेदशः ।
शषसानां समुद्भूतिः शुद्धोपाधिकलायुजः ॥ ९०४ ॥

इच्छाया एव विश्वो हि प्रसवो बहुधा स्थितः ।
अत एव हि सस्थानभावो यक्तत्वमर्हति ॥ ९०५ ॥

जीवस्यवेयमाश्यानस्थितिर्योन्यात्मिका यतः ।
सैवानुत्तरदेवस्य शक्तिरत्र निरुच्यते ॥ ९०६ ॥

तत्रैवान्तःस्थतत्त्वानि परावाग्भूमिकाक्रमात् ।
अवर्गे शिवतत्त्वं तु कादौ हान्ते शिवान्तकम् ॥ ९०७ ॥

इति संपुटयोगोऽयं त्रिशकार्थो निरूपितः ।
एवं पूर्णानवच्छिन्ना चिद्देवी स्याद्यदि स्फुटम् ॥ ६०८ ॥

सर्वमस्यां भवेदेषा सर्वत्र च तथा भवेत् ।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ॥ ६०९ ॥

तस्याहं न प्रणश्यामि स समेत्यपि तन्मुनिः ।
अभाषतार्जुनाचार्यवचसा तत्र तत्र च ॥ ६१० ॥

संविदात्मा हि विच्छिन्नो यदि स्यात्सर्वभावतः ।
भाव एव भवेदेष स्वलक्षणघटादिवत् ॥ ६११ ॥

अतश्च संवित्संवित्त्वहानेरेषा प्रणश्यति ।
पलायते हि चित्सा चेद्व्यवच्चिच्छेदयिष्यते ॥ ६१२ ॥

निजोत्तमाङ्गच्छायेव स्वपदाक्रमणक्रमे ।
यच्च सर्वं मयि प्रोक्तं न पश्यति महाजनः ॥ ६१३ ॥

स सर्वमध्यवर्तित्वान्मयि तावत्प्रतिष्ठितः ।
एवं प्रकाशानिष्ठत्वा दस्यासत्समताजुषः ॥ ६१४ ॥

प्रणाश एवेति मुनिः प्रोवाचोभयवर्त्मना ।
एष वस्तुक्रमस्तावद्योऽयं संपुट उच्यते ॥ ६१५ ॥

तत एव समस्ताध्वकलितासनसद्मनि ।
संविदाधेयतां प्राप्ता पुनराधारतां गता ॥ ६१६ ॥

उक्तं चानुत्तरे यागे पुनरेवासनं ततः ।
अत्र तु प्रविविक्षूणां ज्ञप्तिक्रमवशान्मुनिः ॥ ६१७ ॥

ऊचिवान्भगवानेन विश्वं तन्नान्यथेति यत् ।
अभिन्नसंवित्स्वातन्त्र्यं भासते भेदवर्त्मनि ॥ ६१८ ॥

उपदेश्तोपदेष्टृत्वव्यवस्थेयं प्रतायते ।
स्वात्मैव हि गुरुर्देवः पर इत्यभिमन्यते ॥ ६१९ ॥

स्वोदीरितानि वाक्यानि परोक्तानीति मन्यते ।
प्रतिपाद्यं च यद्वस्तु येन च प्रतिपाद्यते ॥ ६२० ॥

तत्सर्वमात्मरूपं हि भेदेनैवाभिमन्यते ।
यथा स्वप्नपदावस्थामुपदेशपरम्पराम् ॥ ६२१ ॥

आकर्णयज्जडो जन्तुरन्योक्तमभिमन्यते ।
तथैव जाग्रद्गर्भोऽयं व्यवहारः समस्तकः ॥ ६२२ ॥

को भेदः स्वप्नजाग्रत्सु तर्हि स्यादिति चेत्पुनः ।
भणिष्यतेऽथ वा नाथे स्वतन्त्रे किन्न भाषितम् ॥ ६२३ ॥

एवं ज्ञप्तिक्रमेणैव भेदो विध्यनुवादयोः ।
सर्वं देवोऽथ वा देवः सर्वमित्येकमेव हि ॥ ६२४ ॥

वस्तुतः कुम्भघटवद्विश्वं पर्यायमात्रकम् ।
वाच्य एषां त्वमेवेति तेच्छ्रीनारायणोऽभ्यधात् ॥ ६२५ ॥

नन्वभेदे कथंकारं क्लृप्तिर्विध्यनुवादयोः ।
यो दन्तुरः स चैत्रोऽयमिति दन्तुरमादितः ॥ ६२६ ॥

अनूद्य चैत्र इत्यंशो यदि नाम विधीयते ।
तद्दन्तुरोऽन्यश्चेच्चैत्राच्चैत्रश्चान्यस्ततः कथम् ॥ ६२७ ॥

घटश्चैत्र इतीदृक्षा न स्याद्विध्यनुवादता ।
तस्माद्य एव चैत्रोऽसौ स दन्तुर इति स्थितिः ॥ ६२८ ॥

वास्तवी ज्ञप्तिमात्रोत्थो विधिर्विध्यनुवादयोः ।
अज्ञातपर्यायपदस्थितीन्प्रति
प्रयुज्यते पादप एष भूरुहः ।
कुम्भो घटश्चेति तथैव भण्यते
महेश्वरः सर्वमिदं जगत्त्विति ॥ ६२९ ॥

इत्थं संपुटनयोगेन परिपूर्णा हि या स्थितिः ।
यस्यां संहारसृष्ट्यंशशतान्यन्तःस्थितान्यपि ॥ ६३० ॥

तामेव भागशः केचिदुपासितुमनस्तया ।
एकादिद्विगुणत्वोत्थचतुःषड्द्वादशादिभिः ॥ ६३१ ॥

संविच्चक्रमयैर्भेदैर्भिन्दते विविधैः क्रमैः ।
एका संविद्द्विधा सैव दृक्क्रियात्मा त्रिधाथ सा ॥ ६३२ ॥

प्रोन्मेषशक्तिसाचिव्याच्चतुर्धाप्यथ गीयते ।
चिच्छक्त्यानन्दरूढ्या तु पञ्चधासौ प्रभाष्यते ॥ ६३३ ॥

षोढा तु स्वरषट्कोक्तसंविच्चर्चाविचारणात् ।
यावद्द्वादशधा संवित्सृष्ट्यादौ तुल्यगोचरे ॥ ६३४ ॥

एकैकशस्त्र्यात्मकत्वात्त्रये वा चातुरात्म्यतः ।
सृष्टिं कलयते संवित्तत्राभ्येति च रक्तताम् ॥ ६३५ ॥

स्थितिनाशं कलयते क्वापि शङ्कां प्रकल्पयेत् ।
तां संहृत्य च भावांशं संहारात्स्वात्मनः पुनः ॥ ६३६ ॥

संहर्त्रीत्वं चर्चयते तदन्तः पुण्यपापयोः ।
न द्रुतं न निरोधं वा स्वस्वातन्त्र्येण वाञ्छति ॥ ६३७ ॥

एवं बोधांशकरणमरीचीचक्रमात्मनि ।
ग्रसमाना संहरते प्रमाणांशस्थितान्वीन् ॥ ६३८ ॥

ततः कल्पितमात्रंशं संहृत्याकल्पिते हृदि ।
तत्सर्वातीतमप्यन्तरनवच्छिन्नधामनि ॥ ६३९ ॥

नयेत्तन्नथनद्वाराद्विश्वं यावत्तथा नयेत् ।
ततः सृष्टिं च कलयेदित्यादिक्रमयोगतः ॥ ६४० ॥

द्वादशारमिदं चक्रं सर्वदा परिवर्तते ।
यस्यैताः स्थूलमात्रत्वं मासराश्यादिसंपदः ॥ ६४१ ॥

अक्रमक्रमवशाद्द्विशस्त्रिशो
भूरिशोऽथ विविधैः क्रमाक्रमैः ।
चक्रमेतदुदितं विजृम्भते
मेयमानमितिमातृभक्षकम् ॥ ६४२ ॥

एतच्चक्रगतान्तकिरणारासमाश्रयात् ।
चक्रभेदो न संख्यातुं कदाचिदपि शक्यते ॥ ६४३ ॥

यथा हि र्बाहिणः पत्रे सितपीतारुणादिकम् ।
प्रोन्मिषन्निमिषच्चात्र भासतेऽप्यतथात्मकम् ॥ ६४५ ॥

तथानुन्मिषितालीनसूक्ष्मसंवित्सुनिर्भरः ।
चक्रेशो भाति निमिषत्प्रोन्मिषद्वृत्तिचित्रितः ॥ ६४५ ॥

तत्कस्यापि निमेषेण कस्याप्युन्मेषयोगतः ।
एकारचक्रात्प्रभृति सहस्रारं विवर्तते ॥ ६४६ ॥

तदसंख्यानमथ वाप्यन्योन्याश्रितगर्भकम् ।
न वा तच्चक्रमथ किं व्योमैवैकं विजृम्भते ॥ ६४७ ॥

तदप्यनन्तसच्चक्रगर्भं वापि विभासते ।
अनन्तव्योमगर्भं वा महाव्योमैकमुच्यते ॥ ६४८ ॥

यथा व्योमैवैकं कचति सितनीलारुणतया
यथा चैते मेघाः पुनरथ तथा भान्ति बहुधा ।
तथा संवित्तत्त्वं कलनपरिसंख्याविरहितैः
स्वतन्त्रं स्वकारैः स्फुरति न च केचन ततः ॥ ६४९ ॥

इति तत्त्वमिदं न्यरूपय-
न्मम नाथो हृदयस्थितः स्वयम् ।
प्रतिपद्य विचित्ररूपकं
गुरुसंतानपरम्परायितम् ॥ ६५० ॥

तदमुत्र नये न ये प्ररूढि
प्रतिपत्तुं क्षमतामुपाश्रयन्ते ।
ननु तत्प्रतिबोधनाय देवो
विविधां मण्डलकल्पनामवोचत् ॥ ६५१ ॥

बालो यद्वद्रेखया वर्णजाते
स्वैः सङ्केतैर्योज्यते तत्क्रमेण ।
तद्वन्मुद्रामण्डलैर्मन्त्रतन्त्रैः
पूर्णे स्वस्मिन्योज्यते धाम्न्यनर्घे ॥ ६५२ ॥

अत्रापि किञ्चन विभाति तदिच्छयैव
दूरं तथा सविधमाश्रिततारतम्यम् ।
अंशस्पृगप्यथ निरंशपदप्रतिष्ठ-
मित्थं क्रियापटलगो बहुधैव भेदः ॥ ६५३ ॥

इत्थं प्रमाणताभागि यत्तत्त्वं हि न्यरूप्यत ।
परापरा भगवती सेयं भाति तथा तथा ॥ ६५४ ॥

तदत्रैव परांशो यः स मात्रंशोऽपरः पुनः ।
मेयांश इति तत्पूर्वमेवास्माभिः प्रकाशितम् ॥ ६५५ ॥

मात्रंशोऽपि परे भागे बहुधा यस्थितस्ततः ।
परापरोतयोद्रिक्तः परो मन्त्रेशरूपकः ॥ ६५६ ॥

उद्रिक्तापरभावस्तु मन्त्र इत्यभिधीयते।
परापरस्तु यो माता समुद्रिक्तपरापरः॥ ६५७॥

स विज्ञानाकलः प्रोक्तः प्रबुद्धपरभावकः।
अपरोद्रेकयोगेन स एव प्रलयाकलः॥ ६५८॥

अपरः किल यो माता सकलः स तु भाष्यते।
परापरादिभेदेन तस्यापि बहुधा स्थितिः॥ ६५९॥

विचार्यमाणा निःसंख्यान्मातृभेदांस्तनोत्यलम्।
मुख्यत्वेन तु सप्तैव मातृभेदाः प्रकीर्तिताः॥ ६६०॥

प्रमाणांशे पतन्त्येव तेषामेव स्वशक्तयः।
व्यापारयोगितैवैषा शक्तित्वमिति मन्महे॥ ६६१॥

यच्च व्याप्रियमाणत्वं करणत्वं तदेव हि।
एवं च शक्तिमच्छक्तिभेदान्मातृप्रमाणजाः॥ ६६२॥

चतुर्दश स्वरूपं च प्रमेयमिति भाष्यते।
माता मानं च मेयं च यत एकं प्रकीर्तितम्॥ ६६३॥

ततः पञ्चदशात्मैकमेकं प्रकृतिपञ्चितम्।
तत्राप्येकैकशो भेदे निजतत्त्वस्वरूपिणि॥ ६६४॥

संक्षेपविस्तारकृतं भेदानन्त्यं प्रतायते।
पुनर्जलादिमूलान्तभेदसङ्कलनक्रमात्॥ ६६५॥

भूयान्भेदप्रभेदोत्थो वैचित्र्यविसरोदयः।
एवं धरातः प्रभृतिप्रधान-
तत्त्वान्तमुक्तं दशपञ्चधैव।
पुंसः कलान्तं सकलः स्वरूप-
भूतो न माता न च मानरूपः॥ ६६६॥

त्रयोदशात्मत्वमतोऽत्र निष्ठितं
निशि स्वरूपं तु भवेल्लयाकलः।
मध्ये तु विज्ञानकलस्वरूपता
विद्यापदे मन्त्रगतस्वरूपता॥ ६६७॥

ऐशे मन्त्रेशवर्गस्थितिरथ सुशिवे धाम्नि तन्नाथनिष्ठा
पूर्वं पूर्वं च तत्र प्रकटयति निजां मातृमानव्यवस्थाम् ।
तेनानन्यप्रमातृ स्फुरति शिवपदं स्वप्रकाशं सदैकं
मन्त्रेशेशानतस्तु त्रिशरमुनिनवत्र्यक्षसंख्याविभेदाः ॥ ६६८ ॥

शक्तिश्च नो शक्तिमतो विभिन्ना
तेनैति नो भेदमियं पृथक्त्वम् ।
अमातृतायां न च शक्तिरस्ति
तेन स्वरूपं न हि शक्तियुक्तम् ॥ ६६९ ॥

धरातत्त्वाविभेदेन यः प्रकाशः प्रकाशते ।
स एव शिवनाथोऽत्र पृथिवी ब्रह्म तत्परम् ॥ ६७० ॥

धरातत्त्वगताः सिद्धीर्वितरीतुं समुद्यतान् ।
प्रेरयन्ति शिवेच्छातो ये ते मन्त्रमहेश्वराः ॥ ६७१ ॥

प्रेर्यमाणास्तु मन्त्रेशा मन्त्रास्तद्वाचकाः स्फुटम् ।
धरातत्त्वगतं योगमभ्यस्य शिवविद्यया ॥ ६७२ ॥

न तु पाशवसांख्यीयवैष्णवादिद्वितादृशा ।
अप्राप्तध्रुवधामानो विज्ञानाकलताजुषः ॥ ६७३ ॥

तावत्तत्त्वोपभोगेन ये कल्पान्ते लयं गताः ।
सौषुप्तावस्थितौ तद्वत्तेऽत्र प्रलयकेवलाः ॥ ६७४ ॥

सौषुप्ते तत्त्वलीनत्वं स्फुटनेव हि लक्ष्यते ।
अन्यथा नियतस्वप्नसंसृष्टिरियती कुतः ॥ ६७५ ॥

सौषुप्तमपि चित्रं च स्वच्छास्वच्छादि भासते ।
अस्वाप्सं सुखमित्यादिस्मृतिवैचित्र्यदर्शनात् ॥ ६७६ ॥

मायाकर्मसमुल्लाससंमिश्रितमलाबिलाः ।
धराधिरोहिणो ज्ञेयाः सकला इह पुद्गलाः ॥ ६७७ ॥

अस्यैव सप्तकस्य स्वस्वव्यापारप्रकल्पने ।
प्रक्षोभो यस्तदेवोक्तं शक्तीनां सप्तकं ततः ॥ ६७८ ॥

शिवोऽविच्युतचिद्रूपस्तित्रस्तच्छक्तयस्तु याः ।
ताः स्वातन्त्र्यवशोपात्तग्रहीतृग्राह्यरूपिकाः ॥ ६७९ ॥

ग्रहीतृभागोद्रेकेण ग्राह्यभागोच्छलत्त्वतः ।
सप्त सप्तेति यत्त्वेकं जडमात्रं नरात्मकम ॥ ६८० ॥

तत्स्वरूपं ततस्त्रैधं प्रतितत्त्वं व्यवस्थितम् ।
किं चार्थे खलु निर्ग्राह्ये त्रुटयः षोडश क्षणाः ॥ ६८१ ॥

सपादद्व्यङ्गुलावेशात्प्रत्येकं परिकल्पिताः ।
तत्राद्यः परमाद्वैतनिर्विभागरसात्मकः ॥ ६८२ ॥

अन्त्यस्तु ग्राह्यतादात्म्यान्न पृथक् प्रविभाव्यते ।
उपान्त्यस्तत्स्वरूपस्य ग्राहकः परिभाव्यते ॥ ६८३ ॥

आद्यं च सप्तकं तत्र निर्विकल्पकतां गतम् ।
क्रमोन्मिषद्विकल्पांशच्छायाच्छादनकोविदम् ॥ ६८४ ॥

तदेव शिवरूपं हि परशक्त्यात्मकं विदुः ।
द्वितीयं सप्तकं तत्र परापरपदात्मकम् ॥ ६८५ ॥

विकल्प इति संगीतमिति भेदोऽवभास्यते ।
तदस्यां सूक्ष्मसंवित्तौ कलनाय समुद्यताः ॥ ६८६ ॥

संवेदयन्ते यद्रूपं तत्र किं वा विकत्थनैः ।
क्रमात्तु भेदन्यूनत्वे त्रुटीनामपि यो मतः ॥ ६८७ ॥

विकल्पस्य च निर्ह्रासो निर्विकल्पोपलक्षणम् ।
यथा हि चिरदुःखार्तः पश्चादात्तसुखस्थितिः ॥ ६८८ ॥

विस्मरत्येव तद्दुःखं सुखविश्रान्तिवर्त्मना ।
तथा गतविकल्पेऽपि रूढाः संवेदने जनाः ॥ ६८९ ॥

विकल्पविश्रान्तिबलात्तां वृत्तिं नाभिमन्वते ।
विकल्पनिर्ह्रासवशेन याति
विकल्पवन्ध्या परमार्थसत्या ।
संवित्स्वरूपप्रकटत्वमित्थं
तत्रावधाने यततां सुबुद्धिः ॥ ६९० ॥

ग्राह्यग्राह्यकसंवित्तौ संबन्धे सावधानता ।
इयं सा भण्यते तत्र यथेष्टफलयोगतः ॥ ६९१ ॥

अत एव हि तद्भेदबाहुल्याद्भुवनान्यपि ।
विचित्रत्वं प्रयान्तीति न चातिक्रम इष्यते ॥ ९९२ ॥

सक्रमाक्रममेवेदं कालस्य प्राक्प्रदूषणात् ।
दिशश्च परमार्थत्वं नैव युक्त्योपपद्यते ॥ ९९३ ॥

पूर्वापरप्रतीतिं हि नैका सा कुरुते तथा ।
उपाधिभेदो नो वस्तु तत्कथं सा प्रकल्प्यताम् ॥ ९९४ ॥

यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्ट इत्यतः परमेश्वरः ।
अभाषत निजानन्दक्लृप्तदिक्कालमण्डलः ॥ ९९५ ॥

तदेवं तत्त्वरूपेऽस्मिन्विचित्रे प्रविविक्षताम् ।
उपायभेदात्त्रैविध्यं समावेशेषु वर्णितम् ॥ ९९६ ॥

अनुपायः शांभवोऽसौ चिदुपायस्ततः परम् ।
जडोपायस्त्वाणवः स्यात्स चापि बहुधा मतः ॥ ९९७ ॥

अजडेऽपि जडाभासः पारमेश्वर्ययोगतः ।
नाडीकरणबाह्यादेस्तेन संविदुपायता ॥ ९९८ ॥

तत्राक्षवृत्तिमाश्रित्य बाह्याकारग्रहो हि यः ।
तज्जाग्रत्स्फुटमासीनमनुबन्धि पुनः पुनः ॥ ९९९ ॥

आत्मसङ्कल्पनिर्माणं स्वप्नो जाग्रद्विपर्ययः ।
लयाकलस्य यो भोगः लयकर्मवशान्न तु ॥ १००० ॥

स्थिरो भवेन्निशाभावात्सुप्तं सौख्याद्यवेदने ।
ज्ञानाकलस्य मलतः केवलाद्भोगमात्रतः ॥ १००१ ॥

भेदवन्तः स्वतो भिन्नाश्चिकीर्ष्यन्ते जडाजडाः ।
तुर्यं तत्र स्थिता मन्त्रतन्नाथाधीश्वरास्त्रयः ॥ १००२ ॥

यावद्भैरवबोधांशप्रवेशनसहिष्णवः ।
भावा विगलदात्मीयसाराः स्वयमभेदिनः ॥ १००३ ॥

तुर्यातीतपदे संयुरिति पञ्चदशात्मके ।
यस्य यद्यत्स्फुटं रूपं तज्जाग्रदिति मन्यताम् ॥ १००४ ॥

तदेवास्थिरमाभाति स्वरूपं स्वप्न ईदृशः ।
अस्फुटं तु यदाभाति सुप्तं तत्तत्पुरोऽपि यत् ॥ १००५ ॥

त्रितयस्यानुसन्धिस्तु यद्वशादुपजायते ।
स्रक्सूत्रतुल्यं तत्तुर्यं सर्वभेदेषु गृह्यताम् ॥ १००६ ॥

यत्त्वद्वैतभरोल्लासि द्रविताशेषभेदकम् ।
तुर्यातीतं तु तत्प्राहुरित्थं सर्वत्र योजयेत् ॥ १००७ ॥

लयाकले हि स्वं रूपं जाग्रत्तत्पूर्ववृत्ति तु ।
स्वप्नादीति क्रमं सर्वं सर्वत्रानुसरेद् बुधः ॥ १००८ ॥

एकत्रापि प्रभो पूर्णे चित्तुर्यातीतमुच्यते ।
आनन्दस्तुर्यमिच्छैत्र बीजभूमिः सुषुप्तता ॥ १००९ ॥

ज्ञानं तु स्वप्नवृत्तित्वं क्रिया जाग्रदिति स्मृता ।
अत्रैव योगभूम्युत्थाः संज्ञाः पिण्डस्थतादयः ॥ १०१० ॥

सर्वतोभ द्रताद्यास्तु प्रसंख्याज्ञानिर्मिताः ।
एकैकत्र चतूरूपसद्भावाद्वितते ततः ॥ १०११ ॥

चतूरूपत्वमेकत्र त्रित्वं पश्चादथैकता ।
एकस्तु भैरवो नाथः प्रोल्लसद्विश्वरूपकः ॥ १०१२ ॥

एकः शिवादिसकलपर्यन्तस्थितिसंगतः ।
सोऽयं समस्त एवाध्वा भैरवाभेदवृत्तिमान् ॥ १०१३ ॥

तत्स्वातन्त्र्यात्स्वतन्त्रत्वमश्नुवानोऽवभासते ।
सोऽयं मातृस्वरूपस्थो मन्त्राध्वेति विभाव्यते ॥ १०१४ ॥

प्रमारूपतया सोऽयं वर्णाध्वेति निरुच्यते ।
प्रमाणरूपतामेत्य प्रयात्येष पदाध्वताम् ॥ १०१५ ॥

प्रमाणरूपतावेशमपरित्यज्य मेयताम् ।
गच्छन्संकल्पनायोगात्कलाध्वा मातृसंगतः ॥ १०१६ ॥

शुद्धे प्रमेयतायोगे स तत्त्वाध्वेति गृह्यताम् ।
तत्स्थौल्याधारतायोगाद्भुवनाध्वेति वर्णितः ॥ १०१७ ॥

तथाहि चिद्विमर्शेन ग्रस्ता वाच्यदशा यदा ।
शिवज्ञानक्रियायत्तमननत्राणतत्परा ॥ १०१८ ॥

अशेषशक्तिपटलीलीलालाम्पटचपाटवात् ।
मन्त्राध्वा रभसेन द्राक्प्रागुद्भूतः शिवात्मकः ॥ १०१९ ॥

उच्छलत्संविदामात्रविश्रान्त्यास्वादयोगिनः ।
सर्वाभिधानसामर्थ्यादनियन्त्रितशक्तयः ॥ १०२० ॥

सृष्टाः स्वात्मसहोत्थार्थधरापर्यन्तवृत्तयः ।
स्वात्मीये चिद्विलसिते तावतोऽर्थान्निजात्मनि ॥ १०२१ ॥

आमृशन्तः प्रमारूपां सत्यां बिभ्रति संविदम् ।
बालास्तिर्यक्प्रमातारो येऽप्यसंकेतभागिनः ॥ १०२२ ॥

तेऽप्यकृत्रिमसंस्कारसारामेनां स्वसंविदम् ।
भिन्नभिन्नामुपाश्रित्य यान्ति चित्रां प्रमातृताम् ॥ १०२३ ॥

अस्यामकृत्रिमानन्तवर्णसंविदि रूढताम् ।
संकेता यान्ति चेत्तेऽपि यान्त्यसंकेतवृत्तिताम् ॥ १०२४ ॥

अनया तु विना सर्वे संकेता बहुशः कृताः ।
नैव चेतसि विश्रान्ति संकेतान्तरयोगतः ॥ १०२५ ॥

व्रजेयुरनवस्थानान्मूलक्षतिकरत्वतः ।
तत्रापि खलु संकेते बालो व्युत्पाद्यतां कुतः ॥ १०२६ ॥

तेनानन्तस्त्वमायीयो यो वर्णग्राम ईदृशः ।
स चिद्विमर्शसचिवः सदैव प्रविजृम्भते ॥ १०२७ ॥

तत एव च मायीया वर्णाः सूतिं वितेनिरे ।
तेषां ते खल्वपायीया वीर्यमित्यवधार्यते ॥ १०२८ ॥

तथा हि परवाक्येषु श्रुतेष्वावृणुते निजा ।
प्रमा यस्य जडो नासौ तत्रार्थे याति मातृताम् ॥ १०२९ ॥

यस्य तु स्वप्रमा बोधे प्रविशेद्भेदगर्भगा ।
मायीयवर्णपुञ्जे स्वे स प्रमातृत्वमृच्छति ॥ १०३० ॥

यथा यथा चाकृतकं तद्रूपमतिरिच्यते ।
तथा तथा चमत्कारतारतम्यं प्रकल्प्यते ॥ १०३१ ॥

तदुद्रेकमहत्त्वे तु प्रतिभात्मनि निष्ठिताः ।
ध्रुवं कवित्ववक्तृत्वशालितां यान्ति सर्वतः ॥ १०३२ ॥

अत एव हि वाक्सिद्धौ वर्णानां समुपास्यता ।
तेषामेव ततस्तेन गुप्ता गुप्तेन भाषिताः ॥ १०३३ ॥

ततो यावद्विभोः शश्वद्विश्रान्तिर्युगपद्बहून् ।
वर्णानुदृङ्क्य भोगांशपरिपूरणसुस्थितान् ॥ १०३४ ॥

तावदेव पदाध्वासौ मेयभूमिमुपाश्रितः ।
संसारमृतसंकेतसङ्घाते प्रथमाङ्कुरः ॥ १०३५ ॥

एवं प्रमेयता मातृभावो मानत्वमप्यथ ।
षट्त्रिंशदात्मनस्तत्त्वकलापस्येति निश्चितम् ॥ १०३६ ॥

यत्र सर्वं विभात्येतत्परमेशितरि ध्रुवे ।
प्रतिबिम्बस्वरूपेण न तु बाह्यतया यतः ॥ १०३७ ॥

चिद्व्योम्न्येव शिवे तत्तद्देहादिमतिरीदृशी ।
भिन्ना संसारिणां भाति रज्जौ सर्पादिका यथा ॥ १०३८ ॥

यतः प्राग्देहमरणात्सिद्धान्तः स्वप्नगोचरः ।
देहान्तरादिर्मरणात्कीदृग्वा देहसंभवः ॥ १०३९ ॥

स्वप्ने तु प्रतिभामात्रसामान्यप्रथनाद्बलात् ।
विशेषाः प्रतिभासन्ते न भाव्यन्तेऽपि ते तथा ॥ १०४० ॥

शालिग्रामोपलाः केचिच्चित्राकृतिहृदो यथा ।
तथा मायादिभूम्यन्तलेखाश्चित्रहृदश्चितः ॥ १०४१ ॥

नगरार्णवशैलाद्यास्तदिच्छानुविधायिनः ।
न स्वयं सदसद्रूपकारणाकारणात्मकाः ॥ १०४२ ॥

चिरप्ररूढे नियमे समुच्छेदात्प्रवर्तनात् ।
अरूढेऽपि स्वतन्त्रोऽयं स्थितश्चिद्व्योमभैरवः ॥ १०४३ ॥

एकचिन्मात्रसंपूर्णभैरवाभेदभागिनि ।
एवमस्मीत्यनामर्शो भेदको भावमण्डले ॥ १०४४ ॥

सर्वप्रमाणैर्नो सिद्धं स्वप्ने कर्त्रन्तरं यथा ।
स्वसंविदः स्वतन्त्रायास्तथा सर्गोऽपि बुध्यताम् ॥ १०४५ ॥

चित्तचित्रपुरोद्याने क्रीडन्नेवं हि वेत्ति यः ।
अहमेव स्थितो भावैर्भूतैश्चिन्मात्रकैरिति ॥ १०४६ ॥

एवं जातो मृतोऽस्मीति जन्ममृत्युविचित्रताः ।
अजन्मन्यमृतौ भान्ति चित्तभित्तौ स्वकल्पिताः ॥ १०४७ ॥

परेहसंविदामात्रं परलोकेहलोकता ।
किन्त्वकालकलासंविद्देशभेदेऽप्यभेदिनी ॥ १०४८ ॥

अभविष्यदयं सर्गो मूर्तश्चेन्न तु चिन्मयः ।
तदवेक्ष्यत तन्मध्यात्केनैकोऽपि धराधरः ॥ १०४९ ॥

भूततन्मात्रवर्गादेराधाराधेयचर्चने ।
अन्ते संविन्मयी शक्तिः शिवरूपैव धारिणी ॥ १०५० ॥

तस्मात्प्रतीतिरेवेत्थं कर्त्री सा प्रतिभा शिवः ।
अत्र स्वात्मनि ते तेन शक्तिः साधारसंज्ञिता ॥ १०५१ ॥

सांकल्पिकं निराधारमपि नैव पतत्यधः ।
स्वाधारशक्तौ विश्रान्तेर्विश्वमित्थं विमृश्यताम् ॥ १०५२ ॥

अस्या घनाहमित्यादिरूढेरेव धरादिता ।
यावदन्ते चिदस्मीति निर्वृत्ता भैरवात्मता ॥ १०५३ ॥

मणाविन्द्रायुधे भास इव नीलादयः शिवे ।
परमार्थत एषां तु नोदयव्ययोगिता ॥ १०५४ ॥

देशे कालेऽत्र वा सृष्टिरित्येतदसमञ्जसम् ।
चिदात्मनो हि देवस्य सृष्टिर्दिक्कालयोरपि ॥ १०५४ ॥

जागराभिमते सार्धहस्तत्रितयगोचरे ।
प्रहरे च पृथक्स्वप्नाश्चित्रदिक्कालमानिनः ॥ १०५६ ॥

अत एव क्षणं नाम न किञ्चिदपि मन्महे ।
क्रियाक्षणेऽपि ह्येकस्मिन्बह्व्यः सन्ति द्रुताः क्रियाः ॥१०५७॥

तेन ये भावसंकोचं क्षणान्तं प्रतिपेदिरे ।
ते नूनमनया नाल्या शून्यदृष्ट्यवलम्बिनः ॥ १०५८ ॥

तद्य एव सतो भावाञ्शून्याकर्तुं तथासतः ।
स्फुटीकर्तुं स्वतन्त्रत्वादीशः स परमेश्वरः ॥ १०५९ ॥

तदित्थं परमेशानो विश्वरूपः प्रगीयते ।
न तु भिन्नस्य कस्यापि धरादेरुपपन्नता ॥ १०६० ॥

उक्तं चैतत्पुरैवेति न भूयः प्रविविच्यते ।
बहुभिश्चापि बाह्यार्थदूषणा प्रव्यरच्यत ॥ १०६१ ॥

नन्वित्थं जन्ममरणे कर्मणः फलयोगिता ।
कथं स्यात्किन्नु पूर्वोक्तं चित्स्वातन्त्र्यं सुविस्मृतम् ॥ १०६२ ॥

तथा हि चित्स्वतन्त्रेयं यथा भासयते तथा ।
सत्यं भात्यखिलाकारगर्भा सा चेति निश्चितम् ॥ १०६३ ॥

इक्षौ प्रत्यणु माधुर्यं यथा सर्वात्मना तथा ।
प्रत्येकपरमाणौ हि सर्वसृष्टिमयी स्थितिः ॥ १०६४ ॥

अज्ञाततत्त्वमूलास्तु विवदन्तेऽत्र ये बुधाः ।
नूनं निजमनोराज्यरक्षायै ते समुद्यताः ॥ १०६५ ॥

प्राणे खे चिति बाह्ये वा कुत्रापीदमिति भ्रमः ।
अज्ञत्वात्तन्नियत्युत्थस्वातन्त्र्याभावजृम्भितः ॥ १०६६ ॥

अतः स्वसंविदामर्शो जन्मत्वेनेह भासते ।
पुरस्तात्तु न संवित्तिः स्वातन्त्र्योचितरूपिणी ॥ १०६७ ॥

प्राक्तनी संविदेवेह पूर्वकर्मेति भाष्यते ।
तत्संविद्बाधिका संवित्कर्मक्षयकरी ततः ॥ १०६८ ॥

अकृतं च यथा स्वप्ने मया कृतमिति स्फुरेत् ।
फलदा दृश्यते सैव वार्ता जाग्रति कर्मणः ॥ १०६९ ॥

तथा च प्राच्यकर्मौघफलसंप्लोषणात्मिका ।
यस्यैकाप्युत्तरोदेति संवित्स फलभाङ् नहि ॥ १०७० ॥

किं चान्यद्बहुसंवित्सुस्फुरत्त्वादयशो यशः ।
भूयः फलवदाकाशनद्यम्भः सिक्तबीजवत् ॥ १०७१ ॥

एवमल्पफलं कर्म स्वल्पसंवेदने स्फुरत् ।
अस्फुरन्निष्फलं त्वेव न्यायः सोऽयं स्वसंविदाम् ॥ १०७२ ॥

तत्राप्यल्पत्वभूयस्त्वे संविदां ये प्रकल्पिते ।
ते कर्मकर्तुः संवित्तिरूढ्या तद्रूपभागिनी ॥ १०७३ ॥

या च (यस्य) संवित्स्वयं तादृक्फलगर्भा न जायते ।
नाप्यन्यफलनिर्ग्राहिमातृसंगतितस्तथा ॥ १०७४ ॥

फलवेदितुरन्यस्य प्रमातुरपि संविदि ।
अन्यप्रमातृसंकल्पाद्यावदन्ते स कोऽप्यलम् ॥ १०७५ ॥

प्रबुद्धः सृष्टिरक्षायै स्थितिशक्तिविजृम्भकः।
विदाः स्म संकोचयति फलालम्बकल्पनाः ॥ १०७६ ॥

मत्स्यादमत्स्यदृष्ट्येयं सृष्टिरित्याशयेन ते।
परोपकारं कर्तव्यमुपादिक्षन्पुरातनाः ॥ १०७७ ॥

एवं नामोपकारोऽयं मृतस्यापि प्रतन्यते।
पिण्डदानादिना भूयो दीयते देहसंगमः ॥ १०७८ ॥

वरं स्वात्मनि संक्लेशाः परं मा पीडयन्त्विति।
इति कल्पितमेतस्य कृच्छ्रादेस्तपसः फलम् ॥ १०७९ ॥

लशुनादावभक्ष्यत्वमुक्तमाज्ञेयमीदृशी।
अकारणकमेवेति गृह्णन्तु किल जन्तवः ॥ १०८० ॥

तदेवं हंसपक्ष्यादिभक्ष्याभक्ष्यत्वनिर्णये।
युज्येत भिन्नबुद्धित्वमन्यथा न कथंचन ॥ १०८१ ॥

एवं दृष्टेऽप्यदृष्टेऽथ कल्पितांशांशिकाक्रमात्।
फलयोगः स एवाद्य रूढः संविद्भुवि स्थितः ॥ १०८२ ॥

देहः पिण्डात्परे लोके नान्यथेति स्थितिः कृता।
अन्योन्याननुषक्तत्वं जन्तूनां देहभृदिति ? ॥ १०८३ ॥

तत्सर्वशास्त्रपूगैश्च शङ्काशङ्कुः प्ररोपितः।
अज्ञचित्तधरारूढः फलपर्यन्ततां गतः ॥ १०८४ ॥

अस्ति मे पिण्डदोऽद्याहं पिण्डदानक्रमात्तथा।
प्राप्नोम्यवयवाभोगं पूर्णदेहोऽस्मि सुस्थितः ॥ १०८५ ॥

अदृष्टक्रियया पुत्रशिष्यस्वात्मादिक्लृप्तया।
स्वर्गभागहमत्यन्तमात्तसंभोगसुस्थितः ॥ १०८६ ॥

नास्ति मे पिण्डदः कश्चित्स्वयं चास्म्यतिदुष्कृती।
न मे त्रातास्ति कुत्रापि पतामि नरकार्णवे ॥ १०८७ ॥

भविष्यति मम त्राता क्वापि काले कथंचन।
इत्यादिः संविदां स्फारस्तथैव फलति स्वयम् ॥ १०८८ ॥

तस्यास्तु पिण्डकर्त्रादिर्माभूदथ यथा स्फुरेत्।
स तावत्तत्फलं भुङ्क्ते स्वसंकल्पेन कल्पितम् ॥ १०८९ ॥

शङ्कावज्रप्रलेपान्तर्दृढबद्धां त्विमां मतिम्।
भैरवानल एवैकः समूलं प्लुष्यति क्षणात्॥ १०९० ॥

अशेषचित्रचिद्गर्भसंसारस्वप्नसद्मनः ।
प्लोषकः शिव एवाहमित्युल्लासी हुताशनः॥ १०९१ ॥

तन्मूढः कर्मसंवित्तिचित्रीभूतचितिस्तथा।
संकल्पमेव संसारं विचित्रमभिमन्यते॥ १०९२ ॥

अत एव मृतो बालो वासनान्तरवर्जितः।
शिशुरेव भवेत्सुप्तदृढसंसारवासनः॥ १०९३ ॥

..............................तान्यौ तथा (?)।
यावद्यौवनमभ्येति पुनस्तद्वासनाक्रमात्॥ १०९४ ॥

संस्कारसंविदा तास्ताः संसृतीरभिमन्यते।
कश्चिज्जडत्वसंस्काराज्जडीभूतोऽपि खानिलैः॥ १०९५ ॥

सह भूजलयोगेन याति पुष्पफलात्मताम्।
भक्षितो वीर्यरूपेण पुनरायाति गर्भताम्॥ १०९६ ॥

यावत्पुनः पुनश्चित्रान्संसारानभिमन्यते।
एकत्रैव स्वसंस्कारवासनावासितः शिवः॥ १०९७ ॥

भङ्क्ते स्वर्नरकाद्यांस्तु भोगान्स्वातन्त्र्यकल्पितान्।
क्वचिद्भूमिमयी क्वापि जलात्मा क्वापि मिश्रिता ॥१०९८॥

एवं भुवनमय्येषा संविद्भाति स्वरूपतः।
म्रियते यत्र तत्रैव स्वसंस्कारात्सुखादिकम्॥ १०९९ ॥

वेत्त्यन्येन न दृश्यस्तु स त्वन्यान्वेद चान्यथा।
न देशः परमार्थेन न च कालोऽस्ति कश्चन॥ ११०० ॥

भेदवादे हि गगनदेशात्सर्वैकदेशता।
उपाधेरेव देशाद्भिद्देशस्यात्युपधेर्भिदा॥ ११०१ ॥

इत्यन्योन्यसमाश्रित्या देशभेदो न कश्चन।
स्वरूपभेद एवातो भेदकत्वे सुसंगतः॥ ११०२ ॥

स च नास्ति प्रकाशैकस्वरूपेष्विति साधितम्।
एनयैव परामर्शदृशा ये परिवर्जिताः॥ ११०३ ॥

ते शङ्काकारिशास्त्रौघशङ्कितास्तन्मयीकृताः।
स्वस्वप्ननिर्मितानन्तजडजन्तुविकल्पितैः ॥ ११०४ ॥
शास्त्राभासैर्वृथा शङ्कां ग्राह्यन्ते बोधवर्जिताः।
यथा प्रबुद्ध्यते संविन्निभृतापि चिरं स्थिता ॥ ११०५ ॥
तथापि फलतीत्येवं प्रायश्चित्तादिकल्पितैः।
एवमाभासनानात्वस्वातन्त्र्यैश्वर्यशालिना ॥ ११०६ ॥
क्लृप्तं यदेव तत्तस्य याति तन्वादिरूपताम्।
विपर्ययाभासयोगे शीताद्याभासदूषिते ॥ ११०७ ॥
नाड्यादावथ संकोचस्फोटघातादिपीडिते।
देहभस्त्रामहायन्त्रवातचक्रेऽन्यथागते ॥ ११०८ ॥
प्राणो विघटते तेन जडाभासं कलेवरम्।
यस्मिन्यात्यधिकारे वा जाते प्राग्वासनाक्रमात् ॥ ११०९ ॥
तत्रैव कल्पयेद्भोगं परलोकाभिधानकम्।
पाषाणतां वा वेत्त्येष पुनर्वा प्रतिबुध्यते ॥ १११० ॥
परोऽयं लोक इति च रूढ्यास्य परलोकिता।
स्वर्गमोक्षादि यस्येह यथारूढं च चेतसि ॥ ११११ ॥
तथैवास्य बहिर्भाति ततस्तत्रापि चित्रता।
बन्धो मोक्षः सुखं स्वर्गो दुःखं जडमयी स्थितिः ॥ १११२ ॥
संविदेव स्वतन्त्रेत्थं शिवरूपा विराजते।
भूयोऽवयवयुक्तस्य तथा तावत्यहंस्थितिः ॥ १११३ ॥
तथा विश्वात्मके रूपे भैरवस्याप्यहंस्थितिः।
शिशुः शून्येऽपि वेतालं वेत्ति सत्यार्थकारिणम् ॥ १११४ ॥
ध्येयपूज्यादिवैचित्र्यमित्थमर्थक्रियाकरम्।
मूर्तो भिन्नः समाहूतो हित्वा भोगान्निजान्क्षणात् ॥ १११५ ॥
देव एतीति वार्तैषा वचनेष्वेव शोभते।
अमूर्तादिस्वरूपत्वं सर्वमेतत्तु युज्यते ॥ १११६ ॥
आत्मैव हि यथाभूतस्तथा भात्येव भेदतः।
एवं स्वभाव एवैष संविदो यः स एव तु ॥ १११७ ॥

भेदग्रस्ततया कार्मो मलः शास्त्रे निरूप्यते ।
दीक्षादिकर्मयोगे तु न मलत्वं प्रतायते ॥ १११८ ॥

स हि भेदमयाशेषसंसारदहनव्रतः ।
दीक्षा च वस्तुतस्तादृक्सत्यसंवित्स्वरूपिणी ॥ १११९ ॥

एवं यो वेद तत्त्वेनेत्युक्तं चानुत्तरे नये ।
एवं विज्ञानयोगे हि शमिते भेदगोचरे ॥ ११२० ॥

आत्मैव शिव एवैकः को बन्धः का च मुक्तता ।
एतद्दीक्षामहासंवित्प्रवेशाय तु भण्यते ॥ ११२१ ॥

क्रियास्वभावदीक्षासौ कर्मादिमलहानये ।
स्वभावक्लृप्तनियतिबलाक्षिप्तेष कर्मसु ॥ ११२२ ॥

भोगोऽस्य युगपद्यस्मात्क्रियते मन्त्रशक्तितः ।
तथा हि प्राणगा देशकलाकालाध्वनिश्चयाः ॥ ११२३ ॥

जातयोऽस्य प्रतायन्ते धरण्यादिशिवान्ततः ।
तत्रैव जन्मसंभोगाधिकारलयभाजनम् ॥ ११२४ ॥

विधायोत्कृष्यते तस्मादन्यत्र च विधीयते ।
इत्थं गुरोर्निश्चितसंविदात्म-
रूढेश्च शिष्यस्य परस्परेण ।
निष्कर्मचेतोरचितैव दीक्षा
प्राक्कर्मशक्तीरखिला रुणद्धि ॥ ११२५ ॥

तत्रापि तण्डुलतिलाज्यचरुप्रबन्ध
इत्यादि शैवनियतिप्रतिभारक्लृप्तम् ।
तावत्यपि स्फुटपदे न निशाप्रपञ्चो
निर्मलतामुपगतोऽपि विभेदवृत्तेः ॥ ११२६ ॥

भेदेऽपि किंत्वेष पुनर्भविष्य-
संसारकारिसुकृतादिविघातहेतुः ।
शुद्धस्ततस्तदत एव हि तत्त्वजालं
शुद्धेतरस्थितितया निखिलं द्विधैव ॥ ११२७ ॥

शुद्धं त्रिशक्तिखचितं ननु यामलं च
भात्येव तेन बहुधैष कृतः क्रियायाः ।
व्यापारकल्पनवशान्नियतिप्रपञ्चः
स्वल्पेतरत्वकृततादृशभोगयोगः ॥ ११२८ ॥

मुद्रामण्डलसंघातः समन्त्रतन्त्रचर्चितः ।
यत्र योगादिकं सर्वं फलदानाय कल्पते ॥ ११२९ ॥

निर्वृतिफलसंप्राप्तिकाङ्क्षासंकोचसुस्थिताः ।
अनवच्छिन्नतामेव फलत्वेनात्र मन्वते ॥ ११३० ॥

नह्यनन्तानवच्छेदे कापि यागादिकल्पना ।
अनवच्छिन्नवाञ्छा························ ॥ ११३१ ॥

··························· तत्सर्वोत्तीर्णदृष्टयः ।
तथापि विदिते ह्यर्थे परमाद्वयसुन्दरे ॥ ११३२ ॥

संवित्स्वभावस्वातन्त्र्यात्केषांचित्फलकामता ।
तान्येवोद्दिश्य तत्सर्वं पूरणाय धरादितः ॥ ११३३ ॥

शिवान्तं बहुधा भेदैर्धारणाग्रन्थ उच्यते ।
इह हि नान्यनयेष्विव किञ्चन
स्फुरितमस्ति न यत्किल सत्यतः ।
तदिह सत्यपदे स्थितिभागिनां
किमिव हेयपदे निपतिष्यति ॥ ११३४ ॥

इत्थं सप्तदशाधिकारचरमं तत्त्वं यदाभासते
तन्निर्णीतमनुत्तरं शिवपदं संप्राप्तिकामान्प्रति ।
एतत्सर्वमिहोदितं च जगदानन्दे विपक्षात्मकं
भेदप्राणतया यतोऽत्र निखिलोऽन्येष प्रपञ्चः स्थितः ॥११३५॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते
श्रीमालिनीविजयोत्तरवार्त्तिके
प्रथमः काण्डः

अथ

द्वितीयः काण्डः

एवं महेश्वरो देवो विश्वात्मत्वेन संस्थितः ।
क्रमिकज्ञानयोगाभ्यां धारणाभिरुपास्यते ॥ १ ॥

तत्त्वक्रमं गतद्वैतमलमायादिजालकम् ।
अष्टादशे तत्पटले तत्त्वं सम्यग्विभाव्यते ॥ २ ॥

प्राणायामादिकं यत्र हेयमित्येव वर्ण्यते ।
नहि तस्य परां वित्तिं प्रति काचिदुपायता ॥ ३ ॥

अन्तः संविदि यन्निरूढमभितस्तत्प्राणधीविग्रहे
संचार्येत कथं तथेति घटतामभ्यासयोगक्रमः ।
ये त्वभ्यासपथेन संविदमिमां संकर्तुमभ्युद्यता-
स्ते किं कुत्र कुतः कथं विदधतामित्यत्र संदिह्महे ॥ ४ ॥

अभ्यासो हि पुनः पुनरर्थः सोऽपि च दिक्कालप्रतिभेदात् ।
आभासेतरयोगसमुत्थो देहमनः प्राणाक्षपथे स्यात् ॥ ५ ॥

प्रकाशैकघने रूपे भैरवीये विविक्षवः ।
सकृद्विभातविज्ञानविश्रान्त्यैव सुसंस्थिताः ॥ ६ ॥

अत्रैवातः परं प्रोक्तमङ्गं सर्वोपकारि यत् ।
धारणा अपि तद्द्वारे निश्चिते स्युस्तथात्मिकाः ॥ ७ ॥

नन्वप्रतिष्ठे कस्तर्के समाश्वासः प्रकल्प्यताम् ।
किं वा न भवतां तादृगप्रतिष्ठाहतं वचः ॥ ८ ॥

तथा ह्यागम एवैकं प्रमाणमिति निश्चितैः ।
तद्विरुद्धागमव्राते सति निश्चीयतां कथम् ॥ ९ ॥

महाजनप्रसिद्धिस्तु तत्र प्रामाण्यकारणम् ।
अप्रतिष्ठा तद्विरुद्धमहाजनसुसंभवात् ॥ १० ॥

प्रत्यक्षमपि रुच्यादौ दृष्टबाधकसंविदम् ।
उत्तरोत्तरविज्ञानानवस्थाभाजनं ननु ॥ ११ ॥

स्वसंविदपि तत्रैव बाधिते कथितं[ति कथं]किल ।
व्यवहारमयं कुर्याद्भेदसन्धानपण्डितः ॥ १२ ॥

अस्माकं त्वप्रतिष्ठानं न कदाचित्क्वचिद्भवेत् ।
येषां सर्वत्र संपूर्णः परो भैरवसागरः ॥ १३ ॥

विशेषतस्तु तर्कस्य तान्प्रत्येवाप्रतिष्ठता ।
ये तर्कार्णवतारात्तपरमामृतसंविदः ॥ १४ ॥

तथा हि सर्वे तर्कांशा अनामृष्टस्वसंविदः ।
सर्वत्र पर्यन्तफलं न शिवं प्रतिपेदिरे ॥ १५ ॥

अभेदसारः सर्वो हि शास्त्रार्थस्तत्प्रपत्तये ।
यस्तत्रोद्भावितो भेदस्तत्र मूढधियो रताः ॥ १६ ॥

तर्कश्च भेदवांदांशयुक्तिच्छेदैकपण्डितः ।
नन्वभेदेऽपि तर्कस्य काचिदस्त्युपयोगिता ॥ १७ ॥

परमाद्वयदृष्टौ च सोऽपि नैव न संगतः ।
अत एव पराद्वैतं तद्विश्वानुग्रहात्मकम् ॥ १८ ॥

तस्योपायं परं ब्रूते हृदयं स्पन्दनात्मकम् ।
हृदये बोधमयो यः
स्वविमर्शः पूर्णचिच्चमत्कारः ।
युगपद्द्रागिति हठतो
लीनीकृतविश्वतः स्फुरणः ॥ १९ ॥

भावग्रहाद्यचरम-
दशाद्वयोल्लासिनिवृतिसुपूर्णः ।
जगदानन्दमयोऽसौ
सामान्यस्पन्द इत्युक्तः ॥ २० ॥

स्फुरणं हृदयस्य यत्किल
प्रकटं विश्वमिदं विसर्गधाम्नः ।
सदिति प्रतिभाति यावता
त्रिकशक्तौ विशतीह तावता ॥ २१ ॥

तदिदं हृदयं निरुच्यते
परमं भैरवसंविदामतम् ।
इषिदक्क्रतिशक्तिशूलगं
परमे धाम्नि विसृज्यते ततः ॥ २२ ॥

परमे भगवत्परात्मनि
स्फुरितं विश्वमिदं चिदात्मकम् ।
शक्तित्रयशूलगं ततः
शाम्भवभूमिविसर्गिवर्त्मना ॥ २३ ॥

तदथो सदिति प्रगीयते
तदिदं पूर्णमिहाहमात्मकम् ।
हृदयं शिवशक्तिसंगम-
स्फुरणात्मैव सदावभासते ॥ २४ ॥

इह सृष्टिलयस्थितिक्रमाः
शतशो वापि सहस्त्रकोटिशः ।
प्रविभान्ति सदातनात्मना
हरविष्ण्वम्बुजहेतुसंचिताः ॥ २५ ॥

इह तु पुरोक्ताद्युक्तिकलापाद्यः प्रविशेत्सद्यो नाशक्तः ।
तं प्रति शाक्तोपायपथेन प्रकटीक्रियते हृदयस्पन्दः ॥ २६ ॥

त्रिशूलप्रान्तगप्राणप्रेरणावाप्तहृत्पथः ।
तदन्तर्वर्तिचिच्चन्द्रकलाविश्रान्तितत्परः ॥ २७ ॥

झटित्येवाथ तद्भूमित्यागेन प्रोज्झय ता दशाः ।
निरानन्दादिकाः पञ्चभूतमध्यव्यवस्थिताः ॥ २८ ॥

त्यजेत्पूर्वां परां क्रामेत्सम्यग्विश्रान्तितत्परः ।
यतो निजानन्दमयी भूमिः शान्तपदानुगा ॥ २९ ॥

निरानन्दपरानन्दौ पुरुषाजातसंगतो ।
अभेदभिन्नभोग्यौघजनितानन्दजृम्भणात् ॥ ३० ॥

महानन्दस्थितिः कापि वामाचारा चिदुल्लसेत् ।
भैरवीयमहाधाम्नि स्वीकृताशेषसंविदिः ॥ ३१ ॥

महानन्दश्चिदानन्दीभूयः भूयः प्रवर्तते ।
अस्मिंस्तु स्वीकृताशेषदक्षवामोर्ध्वगत्रिके ॥ ३२ ॥

त्रिके सर्वात्मना द्वैताद्वैतसंग्रहणात्मनि ।
अभिन्ना वाथ भिन्ना वा भिन्नाभिन्ना अथापि वा ॥ ३३ ॥

भावा निजादिकानन्ददशापञ्चकयोजिताः ।
जायन्ते जगदानन्दसमुद्दामदशाजुषः ॥ ३४ ॥

निजानन्दः प्रमात्रंशमात्रनिष्ठनिबन्धनः ।
शून्यतामात्रविश्रान्तेर्निरानन्दात्मिका स्थितिः ॥ ३५ ॥

प्रमेयपदविश्रान्तेः परानन्दोऽप्युदेत्यलम् ।
अनन्तमेयसंघट्टपूर्णे मेये तु सर्वतः ॥ ३६ ॥

प्रमाणाच्चर्वणायोगान्महानन्द इति स्थितिः ।
समस्तमानमेयौघकलनाग्रासकोविदः ॥ ३७ ॥

यदा विश्रान्तिमभ्येति निरुपाधिसुनिर्भराम् ।
तदा खलु चिदानन्दो यो जडानुपबृंहितः ॥ ३८ ॥

न च यत्र स्थितिः कापि विभक्ता जडरूपिणी ।
यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत् ॥ ३९ ॥

यदनाहतसंवित्ति परमामृतबृंहितम् ।
तदेव जगदानन्दधामास्माकं गुरुर्जगौ ॥ ४० ॥

यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संगतिः ।
तत्र विश्रान्तिराधेया हृदयोच्चारयोगतः ॥ ४१ ॥

या तत्र सम्यग्विश्रान्तिस्तत्पराद्वैतमुच्यते ।
प्राणदण्डप्रयोगेन पूर्वापरसमीकृतेः ॥ ४२ ॥

चतुष्किकाम्बुजालम्बिलम्बिकासौधसिक्तभूः ।
बन्धमोक्षविभागेन नरादन्यत्र योगिना ॥ ४३ ॥

अनुत्तरस्वभावेन वाग्व्यापाराभिवर्तिना ।
चिद्विमर्शपराहङ्कृत्प्रलयोल्लासयोगिना ॥ ४४ ॥

उद्योगवशरिक्तेन सद्द्वादशकलात्मना ।
सूर्येणाभासिते भावे पूरिते परिचर्चिते ॥ ४५ ॥

तद्ग्रासनमन्थरवशाः षोडशाख्यकलाजुषा ।
प्रविष्टेन विबोधाग्नौ सम्यग्विसृजता कलाः ॥ ४६ ॥

चतस्रो जीवनीः प्राप्तविसर्गाविकृतस्थितेः ।
अन्तःकृतानन्ततत्त्वकादिक्षान्तेन सर्वतः ॥ ४७ ॥

भावानां भावतासारविमर्शाभावहृद्युजा ।
बहिःप्रसवसद्योगिकुलनेत्र्यधिशायिना ॥ ४८ ॥

रुद्रयामलभावेन नित्यं या निष्ठितैव ताम् ।
चित्प्राणगुणदेहान्तशक्तिसोपानमालिकाम् ॥ ४९ ॥

वसर्गेण विसृज्याथ स्पन्दनोदरवर्तिना ।
विसर्गभूमिमाश्लिष्य मत्स्योदरदशाजुषम् ॥ ५० ॥

सर्वसर्वगतां सर्वजीवनीं परमां कलाम् ।
त्रिशूलभुवमाक्रम्य नाडीत्रितयसंगताम् ॥ ५१ ॥

विकस्वरां संकुचितां क्रमेणैकात्म्यमाश्रिताम् ।
भ्रुकुटीबिन्दुनादान्तशक्तिसोपानमालिकाम् ॥ ५२ ॥

रासभीवडवास्रवसङ्कोचविकासिकाम् ।
मुहुर्मुहुर्लीयमानसृष्टभावौघनिर्भराम् ॥ ५३ ॥

एकीकृतमहामूलशूलवैसर्गिकास्पदाम् ।
समग्रभावभरणभैरवीयहृदाश्रिताम् ॥ ५४ ॥

सर्वापूरणहेवाकसमर्जितपराभिधाम् ।
आद्यन्तरहितामेनां विश्वप्रवणशालिनीम् ॥ ५५ ॥

हृद्बोधाकाशचिच्चन्द्रचन्द्रिकां त्रितयेशिकाम् ।
देवीं प्राप्य न किं नाम लभते लम्भयत्यपि ॥ ५६ ॥

तदत्र भावनादेहगतोपायैः परे सति ।
यदैष प्रविविक्षुः स्याद्योगी तावत्प्रकम्पते ॥ ५७ ॥

पूर्वजन्मशताभ्यस्तदेहतादात्म्यनिश्चयः ।
जलपांसुवदेकत्वं मन्वानश्चिच्छरीरयोः ॥ ५८ ॥

भेदाख्यमायारहिते परिपूर्णाचिदात्मनि ।
प्रविशेत्प्रथमं यावत्स्वबलाक्रमणक्रमात् ॥ ५९ ॥

भवेदद्या[न्निद्रा]स्य सा देहावेशशैथिल्यदायिनी ।
कम्प्ररूपैव यावन्नो रूढिर्जाता परात्मनि ॥ ६० ॥

एतदव्यक्तलिङ्गं तन्नरशक्तिशिवात्मकम् ।
यत्र विश्वमिदं लीनं यदन्तःस्थं च गम्यते ॥ ६१ ॥

किं चाध्वजातमेतद्देहस्थतयैव पूर्वनिर्णीतम् ।
तस्योन्मेषवशेन स्फुटतां या[यात्]समावेशः ॥ ६२ ॥

चित्तत्त्वस्य विशेषस्पन्ददशाशालिनश्चिदानन्दः ।
शाक्तसमुल्लासभरादन्तः कृतमन्त्रवीर्यपरासारः ॥ ६३ ॥

नरशक्तिमयमिदं तद्व्यक्ताव्यक्तं भवेल्लिङ्गम् ।
सिद्धिफलप्रसवरसप्रसूनमिति कथ्यते शास्त्रे ॥ ६४ ॥

व्यक्तलिङ्गं तदुक्तं तु यत्केवलनरात्मकम् ।
एकस्य स्पन्दनस्येयं त्रिधा भेदव्यवस्थितिः ॥ ६५ ॥

एतल्लिङ्गज्ञानप्रवियुक्तहृदा वृथैव हि भजन्ते ।
बाह्यस्थलिङ्गपूजां प्रयासमात्रं फलाय नहि तत्स्यात् ॥ ६६ ॥

यद्व्यक्तमात्मलिङ्गाख्यं नररूपसमाश्रयि ।
देहाभेदमये बाह्ये विश्वस्मिन्भरिते सति ॥ ६७ ॥

समुदेति महानन्दभूमौ लीनस्य योगिनः ।
तेनाद्यं लिङ्गमभ्येति संमुखीनत्वमञ्जसा ॥ ६८ ॥

अत्र लिङ्गे सदा तिष्ठेत्पूजाविश्रान्तितत्परः ।
यद्योगिनीनां हृदयं परमानन्दमन्दिरम् ॥ ६९ ॥

पूर्वोक्तबीजयोन्यंशविसर्गानन्दमन्दिराः ।
यत्र कामपि तादात्म्यसंपत्तिं चिन्वते बुधाः ॥ ७० ॥

यत्र प्रयासविरहात्सर्वोऽसौ देवतागणः ।
आनन्दपूर्णे धाम्न्यास्ते नित्योदितचिदात्मकः ॥ ७१ ॥

यत्तद्भैरवनाथस्य संकोचेतरभासनम् ।
अविद्यमानसंकोचविकासस्यापि भासते ॥ ७२ ॥

यत्तत्समाप्तिसंघट्टसमुत्थानन्दधारया ।
अवसिक्तमिदं विश्वमपोज्झति पुराणताम् ॥ ७३ ॥

तत्र प्रवेशने यत्नः कार्यत्वेन प्रयासकृत् ।
यतः सदोदितो भानुः किं दीपेन विचार्यते ॥ ७४ ॥

यदि स्वात्मस्थितो योगी शिवचित्स्पन्दभूमिगः ।
यदि वा बाह्यभावौघविशेषस्पन्दसंश्रितः ॥ ७५ ॥

सर्वथा शिवशक्त्यात्मत्रिकरूढेरविच्युतः ।
योगी जायेत निःशेषयोगिनीकुलनन्दनः ॥ ७६ ॥

घटाभावेऽपि सामान्यस्पन्दाभासमयीं स्थितिम् ।
परभैरवमुद्रां तामन्तर्लक्षबहिर्दृशम् ॥ ७७ ॥

यदाश्रयति शैवी सा परा देवी ततः पुनः ।
स्वातन्त्र्यहेलानिर्मेये तत्तदर्थक्रियामये ॥ ७८ ॥

भावौघे सोत्सुकौन्मुख्यविमर्शरसयोजतः ।
विशेषस्पन्दसद्भूमिं शक्तिं संस्पृश्य वर्तते ॥ ७९ ॥

एतेनाधिष्ठिता धाम्ना स्वमन्त्रास्तत्प्रकाशने ।
यान्ति स्वातन्त्र्ययोगित्वं विचित्रास्वपि सिद्धिषु ॥ ८० ॥

हानादानतिरस्कारवृत्तो रूढिमुपागतः ।
सर्वभासनयोगेन भासमानं चिदात्मना ॥ ८१ ॥

अभेदवृत्तितः पश्यन्दृश्यं चितिचमत्कृतेः ।
अर्थक्रियार्थितादैन्यकारितां कातरां स्थितिम् ॥ ८२ ॥

विहाय यावदासीत तावच्छांभवभूमिकाम् ।
भैरवीमाविशत्येव परां भूमिमयत्नतः ॥ ८३ ॥

एतदाविष्टसंवित्ति सर्वमेव निरीक्ष्यते ।
प्रकाशरूपताक्रान्तं चैतन्यं हि प्रकाशते ॥ ८४ ॥

न चाप्रकाशं प्राकाश्ययोगादेति प्रकाशताम् ।
इति विस्तरतः पूर्वं प्रकाशितमिदं यतः ॥ ८५ ॥

महासाहससंयोगविलीनाखिलवृत्तिकः ।
पुञ्जीभूतस्वरश्म्योघनिर्भरीभूतमानसः ॥ ८६ ॥

अकिंचिच्चिन्तकः स्पष्टदृष्टमेदोज्झितस्थितिः ।
यावदासीत तावत्तु पूर्वोक्ता एव भूमयः ॥ ८७ ॥

सांमुख्यं यान्ति संसारसद्मदाहैकहेतवः ।
यश्च दिव्योऽक्षसंघातो भेदरूढितिरोहितः ॥ ८८ ॥

स्वातन्त्र्यपोषकक्रीडामात्रोपकरणात्मकः ।
यदा निमीलनावन्ध्यस्तिष्ठत्येकं क्षणं तदा ॥ ८९ ॥

तद्द्वारोदितसंबोधमहाज्वालाविलापितम् ।
विश्वमभ्येति परमानन्दसागरशायिताम् ॥ ९० ॥

तद्रसापानविश्रान्तः संविद्देवीः प्रतर्पयन् ।
अचिरादेति मरणजन्मत्रासविहीनताम् ॥ ९१ ॥

आश्यानभावं हि गता स्वसंवि-
द्देहेन्द्रियज्ञेयमयत्वमात्मा ।
युक्त्या तु सा प्राप्तविलीनभावात्
संविद्घनं स्वयं वपुरेव याति ॥ ९२ ॥

युक्त्या ययैव बाह्यार्थविवशीकृतचेतसाम् ।
व्युत्थितिर्जायते सैव भैरवानन्दसंविदः ॥ ९३ ॥

तयैव योगिनीवक्त्रसंप्रदायक्रमाप्तया ।
विधूतकल्मषावेशा तिष्ठते चिन्मयी स्थितिः ॥ ९४ ॥

वक्त्रमीषद्यदा योगी विकासयति संविदः ।
सर्वा इन्द्रियनाड्यन्तश्चक्राक्रमणसंश्रयाः ॥ ९५ ॥

तदा विकासं ग्राह्यार्थभेदाभावमयं हठात् ।
प्रयान्ति चिदुन्मुखत्वान्नीलपीतादिभेदवान् ॥ ९६ ॥

ग्राह्यग्राहकसंबन्धभेदः सपदि भिद्यते ।
योगिनीवक्त्रसंरूढसंप्रदायक्रमाप्तया ॥ ९७ ॥

सद्योऽनुभवदायिन्या मुद्रया मुद्रिताखिलः ।
सर्वाधिष्ठातृचिद्रूपसाक्षाद्भैरवतन्द्रितः ॥ ९८ ॥

स योगी विस्मयाविष्टो लभते स्वात्मसंविदम् ।
तत्तद्दृश्योदयापाययोगेऽप्यनपयत्स्थितिः ॥ ९९ ॥

तडागवर्तिनिम्नाम्ब तन्नान्यत्र प्रवर्तते ।
प्रयत्नेनापि तन्मात्रपूरणाय यदक्षमम् ॥ १०० ॥

यदा त्वन्तःपदद्वारसार(तद्वारिधारा)संपूरितं रसात् ।
भवेद्ध्रुवेयुस्तत्पूर्णाः प्रवाहाः सर्वतोमुखाः ॥ १०१ ॥
एवं स्वोल्लासरभसाच्चैतन्यं प्रोन्मिषत्स्वयम् ।
अविभागेन भावांशान्स्वात्माभेदेन भासयन् ॥ १०२ ॥
शी[मी]लनाविषयीभावं श्रयेद्यदि मुहूर्तकम् ।
मायाविगलनाद्भूमिर्भैरवीया विराजते ॥ १०३ ॥
वैकल्पिको ह्यवच्छेदः पश्चाद्यां दर्शयेद्भिदाम् ।
सैव माया स्वतन्त्रस्य भेददृष्टिप्रकाशिनी ॥ १०४ ॥
उन्मेषमात्ररूढस्य सा निर्मूला न संभवेत् ।
इत्थं किं बहुनोक्तेन नयेऽनुत्तरनामनि ॥ १०५ ॥
वस्तुतोऽस्ति न कस्यापि योगाङ्गस्याभ्युपायता ।
स्वरूपं ह्यस्य नीरूपमवच्छेदविवर्जनात् ॥ १०६ ॥
उपायोऽप्यनुपायोऽस्यायागवृत्तिनिरोधतः ।
रेचनापूरणैरेषा रहिता तनुवातनौः ॥ १०७ ॥
तारयत्येवमात्मानं भेदसागरगोचरात् ।
निमज्जमानमप्येतन्मनो वैषयिके रसे ॥ १०८ ॥
नान्तरार्द्रत्वमश्येति निश्छिद्रं तुम्बकं यथा ।
स्वं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरुन्धते ॥ १०९ ॥
तेषां तत्खण्डनायोगाद्धावत्युन्मार्गकोटिभिः ।
किंस्विदेतदिति प्रायो दुःखेऽप्युत्कण्ठते मनः ॥ ११० ॥
सुखादपि विरज्येत ज्ञानादेतदिदं [त्विति] ।
तथाहि गुरुरादिक्षद्बहुधा स्वकशासने ॥ १११ ॥
अनादरविरक्त्यैव गलन्तीन्द्रियवृत्तयः ।
यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद्विकुर्वते ॥ ११२ ॥
प्रत्याहारोऽपि नामायं योऽक्षजाले प्रवर्त्यते ।
बन्धस्यारूढवृत्तेस्तद्वज्त्रलेपेन बन्धनम् ॥ ११३ ॥
अर्थेषु तद्भोगविधौ तदुत्थे
दुःखे सुखे वा गलिताभिशङ्कम् ।

अनाविशन्तोऽपि निमग्नचित्ता
जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्तः ॥ ११४ ॥

सत्येवात्मनि चित्स्वभावमहसि स्वान्ते तथोपक्रियां
तस्मै कुर्वति तत्प्रचारचतुरे सत्यक्षवर्गेऽपि च ।
यत्स्वर्थेषु रसादिषु स्फुटतरं यद्भेदवन्ध्योदयं
योगी तिष्ठति पूर्णरश्मिखचितस्तत्तत्त्वमादीयताम् ॥११५॥

अविवेक एव परमिह संसार'इति प्रवादमात्रमिदम् ।
अविवेक एव हि परं निःश्रेयसलाभसोपानम् ॥ ११६ ॥

त्यजावधानानि ननु क्व नाम
धत्सेऽवधानं विचिनु स्वयं तत् ।
पूर्णेऽवधानं नहि नाम युक्तं
नापूर्णमभ्येति च सत्यभावम् ॥ ११७ ॥

तत्रैवानन्दयोगः क्वचन ननु भवेत्तत्र पूर्णः स्वभावो
…ते वेति तत्र प्रशमपदमियाद्यद्ययं भेदमोहः ।
तज्ज्ञाने जाग्रदादावपि निखिलपदे चिन्महाचक्रनाथो
योगी जायेत नानाव्यवहृतपथगोऽप्युल्लसन्मन्त्रवीर्यः ॥ ११८ ॥

यथा हि कूपं प्रचिकीर्षुरेव
प्राप्ते जले याति कृतित्वमेकः ।
कश्चित्पुनर्हस्तगतादि[वारि] मात्रा-
दित्थं परप्राप्तिविधिर्विचित्रः ॥ ११९ ॥

अनुपायमिदं तस्मादुपातोपेययोगतः ।
भेदबन्धाद्विमुच्येत कथं वेतरथा जनः ॥ १२० ॥

अनुपायेऽपि चैतस्मिन्किंचित्सांबन्ध्यवृत्तितः ।
उपायस्योपदेशोऽयं शास्त्रेऽत्र बहुधा कृतः ॥ १२१ ॥

यथा लिप्यक्षरैर्बालाः सत्ये वर्णात्मनि स्फुटम् ।
प्रवेश्यन्ते तथा मूढास्तैस्तैरौपयिकैः क्रमात् ॥ १२२ ॥

तदर्थमेव चाद्वैते परतत्त्वेऽपि सादरम् ।
पूजाध्यानादि शास्त्रेऽस्मिन्नुचितं किंचिदुच्यते ॥ १२३ ॥

यत्किचिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ ।
योज्यते बोधसद्ब्रह्मधाम्नि ब्रह्मबिलात्मनि ॥ १२४ ॥

आत्मानुसारिसद्भावसमावेशदशाश्रयात् ।
तत्तत्परकुलेशानशक्तिचक्रार्चनाक्रमे ॥ १२५ ॥

प्रयात्येवाप्रयत्नेन करणत्वं स्वभावतः ।
कृत्वाधारधरां चमत्कृतिरसप्रोक्षाक्षणक्षालिताम्
आत्तैर्मानसतः स्वभावकुसुमैः स्वामोदसंदोहिभिः ।
आनन्दामृतनिर्भरस्वहृदयानर्घार्घपात्रक्रमा-
त्वां देव्या सह देहदेवसदने देवार्चयेऽहर्निशम् ॥ १२६ ॥

एवं यत्र क्वचित्तिष्ठेत्स्वविमर्शस्वभावतः ।
तत्र शक्तित्रयावेशस्त्रिधा तावत्प्रकाशते ॥ १२७ ॥

नवधा भासमानस्य प्रोक्तद्वादशचक्रतः ।
विश्रान्तिरेकक्षणगा साष्टोत्तरशतस्थितिः ॥ १२८ ॥

एकैव शतसंख्या च सा स्थितिः प्रविभाव्यते ।
इत्थं यत्किचनैतस्य वचनं योगिनो भवेत् ॥ १२९ ॥

तदेव जपयोगाय जायतेऽनुत्तरे पथि ।
अन्तरिन्धनसद्भावमनपेक्ष्यैव नित्यशः ॥ १३० ॥

यो ज्वलत्यखिलऽक्षौघप्रसृताग्रशिखाशतः ।
तत्रैव सर्वभावानां प्रवेशश्चेद्विमृश्यते ॥ १३१ ॥

नूनं झटिति संप्लुष्टस्थूलरूपतया हठात् ।
यान्ति बोधमहाज्वालाप्रकाशैक्यं स्वरूपतः ॥ १३२ ॥

स एष परमो होमो भैरवीयक्रमे मतः ।
निजबोधजठरहुतभुजि भावाः सम्यक्समर्पिता युक्त्या ।
जहति भेदविभागं निजशक्त्या तं समिन्धते यस्मात् ॥ १३३ ॥

यदेव स्वेच्छया सृष्टिस्वाभाव्यवशतः पुरः ।
निर्मिमीतेऽक्षविषयं तद्ध्यानायावकल्पते ॥ १३४ ॥

निराकारे हि चिद्धाम्नि विश्वाकृतिमये सति ।
फलार्थिनां काचिदेव ध्येयत्वेनाकृतिः स्थिता ॥ १३५ ॥

यथा ह्यभेदसंपूर्णे भावेऽप्युदकमाहरन् ।
अन्याकृत्यपहानेन घटमर्थयते रसात् ॥ १३६ ॥

तथैव परमेशाननियतिप्रविजृम्भणात् ।
काचिदेवाकृतिः कांचित्सूते फलविकल्पनाम् ॥ १३७ ॥

यस्तु संपूर्णचिद्वृत्तिर्न फलं नाम वाञ्छति ।
तस्य विश्वाकृति ध्यानं सर्वदैव विजृम्भते ॥ १३८ ॥

कुलयोगिन उद्रिक्तभैरवीयरसासवात् ।
घूर्णमानस्य यः कश्चित्कोऽप्युदेति यथा तथा ॥ १३९ ॥

शरीरगः समावेशो मोदनद्रावणात्मकः ।
सा स्वीकृतजगन्मुद्रा मुद्रा नैरुत्तरे मते ॥ १४० ॥

एष योगविधिः कोऽपि कस्यापि हृदि वर्तते ।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं द्रागपश्चिमजन्मनः ॥ १४१ ॥

लोकेनालोक्यमानोऽपि देहबन्धविधौ स्थितः ।
अभ्येति योगे रूढेन क्षणात्कामपि संविदम् ? ॥ १४२ ॥

अत्रैव त्वस्मत्पूर्वार्याचार्याणां धिषणा भृशम् ।
अभ्यमंस्त भवाभोगविभ्रमाणामसंनिधिम् ॥ १४३ ॥

वेदसांख्यभवेद्वादन्यायसौगतलौकिकैः ।
पञ्चरात्रक्रियाशास्त्रसिद्धान्तादिभिरप्यलम् ॥ १४४ ॥

उचितोचितविज्ञानक्रियांशपरिभावकैः ।
सर्वैः स्वप्रक्रियारूढैस्तैस्तैरौचित्ययोगतः ॥ १४५ ॥

यत्र बीजसमावापखननादिक्रियाक्रमः ।
अकारि शांभवानेकशाखाभिर्योऽतिविस्तृतः ॥ १४६ ॥

तस्य चिद्भैरवतरोः फलमेतदनुत्तरम् ।
आश्रमस्थितचर्याद्यैर्जटाजालाञ्जनान्तकैः ॥ १४७ ॥

कृतैरप्यकृतैर्वापि यत्र नो लभ्यते भिदा ।
तत्रैव योगे विश्रान्तिं कुर्वतां भवडम्बरः ॥ १४८ ॥

हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव प्रलीयते ।
अलं हि चर्व्यमाणेऽस्मिन्सरसे संविदासवे ॥ १४९ ॥

निस्सरन्ति महोल्लासाः संख्या येषु न विद्यते ।
तेषां च प्रकटीकाराः कृताः प्रागेव विस्तरात् ॥ १५० ॥

अत्राभिनवगुप्ते तु तत्त्वे केऽप्येव निश्चिताः।
केतकीकुसुमसौरभे भृशं
भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने
कोऽपि रज्यति नभेदमोहितः॥ १५१॥

नात्र रूढस्य कार्या स्याच्छुद्धिः काचन कुत्रचित्।
अशुद्धं हि जगत्येव भैरवात्मनि किं भवेत्॥ १५२॥

अशुद्धेऽपि च भूतौघे केन शुद्धिः प्रतायताम्।
अनवस्था भवेदित्थं व्यर्थान्योन्याश्रितिस्तथा॥ १५३॥

अशुद्धस्य तिरोधाने शुद्धं नाम प्रलीयते।
प्रतियोगिकृतं तद्धि न स्वभावेन नीलवत्॥ १५४॥

अत एव न कश्चिदाग्रहो
विषयाणां ग्रहणेऽप्यमोहने।
परभैरवसंविदात्मनः
स्वयमेवोच्छलिता हि भोक्तृता॥ १५५॥

सर्वमत्र विहितं यतोऽमुना
वर्त्मना सकलमेव युज्यते।
मार्गमेवमपहस्त्य किंचन
क्वापि नैव ननु याति युक्तनाम॥ १५६॥

तथाहि दीक्षा नामेयं या मलानां निकर्तनी।
सा भेदवादिनां पक्षे कथं नामोपपद्यते॥ १५७॥

तथाहि यो मलो नाम स कथं चित्स्वभावकम्।
आत्मानमावृणीते क्व विभोरावरणक्रिया॥ १५८॥

न च प्रकाशस्तमसा जातु संव्रियते यतः।
प्रकाशोदय एवायं ध्वान्तध्वंसक्रियात्मकः॥ १५९॥

किं चावरणमुक्तं हि रश्म्यादेर्गतिधर्मिणः।
प्रतीघातात्मकं तत्किं विभोरगतिधर्मिणः॥ १६०॥

अपि वा ज्ञेयतामात्रतिरोधैव [धानं] हि संवृतेः।
पटादिना घटादेः स्यान्न स्वरूपान्यथास्थितिः॥ १६१॥

न चात्मानश्चिदात्मत्वाज्ज्ञेयत्वमधिशेरते।
तदावरणमेषां तु शब्देष्वपि न शोभते॥ १६२॥

नन्वीश्वरस्य ते ज्ञेया अणवः कथमीदृशम् ।
चिदात्मकं हि न ज्ञेयं चिदात्मत्वतिरोहिते ॥ १६३ ॥

संविज्ज्ञेयेति शब्दोऽयं वन्ध्या मे जननीत्यदः ।
वाक्यं स्मरयतीव स्वं स्वात्मसब्रह्मचारि यत् ॥ १६४ ॥

किं चेश्वरस्य सार्वज्ञ्यं तावता प्रतिहन्यते ।
आवृतान्वेत्ति नाणून्यत्र त्वेषां काचन क्षतिः ॥ १६५ ॥

नन्वनावरणे नीले ज्ञातुरावरणे सति ।
न दर्शनं तथा बाधा न सर्वज्ञो मलावृतः ॥ १६६ ॥

मैवं तत्र हि दृग्रश्मीन्गच्छतः प्रतिहन्ति तत् ।
पटादि न तु विज्ञातुरस्त्यावरणसंभवः ॥ १६७ ॥

मलश्चाव्यापको व्याप्तुरावारक इति स्फुटम् ।
घटेऽपि व्योम्नि संदध्यादशून्यत्वं स्वरूपतः ॥ १६८ ॥

आत्मनश्चाधिकार्यत्वान्मलः किंचित्करो न चेत् ।
कथमावरणायैव शक्तो ननु च भोः किम् ॥ १६९ ॥

मलसद्भावमात्रं हि तस्यावरणमुच्यते ।
मलेन सद्वितीयोऽणुरावृतः परिभाष्यते ॥ १७० ॥

हस्तानेन नयेनैष शिवमुक्तात्मनामपि ।
स्थितमावरणं सत्यं मलसद्भावमात्रतः ॥ १७१ ॥

किं चावृतो मलेनात्मा मलमेव न वेत्ति किम् ।
तदसंवेदने तस्य किं मलान्तरमुच्यते ॥ १७२ ॥

नन्वतः किं मलं वेत्तु तर्हि विद्याकले विना ।
सर्वज्ञत्वं भवेत्तच्च मलं विदितमेव सत् ॥ १७३ ॥

जहात्वात्माभ्युपायैस्तैस्तैर्विचित्रैः प्रकल्पितैः ।
किं चावरणमेतेन यस्यात्मनि भवेत्ततः ॥ १७४ ॥

घटादौ ज्ञातृकर्तृत्वे कथमस्य भविष्यतः ।
ननु विद्याकले किंचिज्ज्ञत्वकर्तृत्वदे स्मृते ॥ १७५ ॥

इत्थं विमूढमतयो वञ्च्यन्ते न तु पण्डिताः ।
जडस्वभावा मायैषा तत्सूतिश्च कलादिकः ॥ १७६ ॥

अचिदात्मा कथंकारं चिदभिव्यञ्जनक्षमः ।
अभिव्यक्ता च चिद्विभ्वी किंचित्त्वादिविशेषणैः ॥ १७७ ॥

विशेष्यतां कथं नाम सांशवस्तूचितं हि तत् ।
ननु देवः कलाविद्याकरणो व्यञ्जयेच्चितम् ॥ १७८ ॥

व्यनक्तु सर्वतो हन्त नास्याशक्तिरथाग्रहः ।
मले सदातने चास्य कथं मुक्तिर्भविष्यति ॥ १७९ ॥

रौद्री[रोद्ध्री]शक्तिर्मलस्यास्ति सा च क्वापि निवर्तते ।
क्वापि प्रवर्तते चेति धिगिदं मूढभाषितम् ॥ १८० ॥

जडानां कोऽनुसंधिः स्यात्तं विनैतत्कथं भवेत् ।
अथ तत्रापि देवस्य हेतुताभ्युपगम्यते ॥ १८१ ॥

किं निमित्तमसौ देवस्तां शक्तिं संप्रवर्तयेत् ।
प्रवर्तितां वा किं नाम तां निवर्तयते पुनः ॥ १८२ ॥

स्वातन्त्र्यादिति चेत्पूर्णं तदेवाश्रीयते न किम् ।
मलस्य ध्वान्तरूपस्य न च पाकोऽस्ति कश्चन ॥ १८३ ॥

स ह्यन्यतादानयोगाद्धन्त्यमुष्य ध्रुवात्मताम् ।
एतेन मलसंबन्धादीश्वरेच्छाप्रचोदितः ॥ १८४ ॥

भोगलोभकथाविष्टः पशुः सृष्टचानुगृह्यते ।
इति यद्धूण्यते मूलहतं तज्जनितं ततः ॥ १८५ ॥

स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः ।
स्वतन्त्रो हि विभुः किंचित्किं न स्वात्मनि भासयेत् ॥ १८६ ॥

यच्च कर्मापि नामेष्टं तत्तावत्प्रविचार्यताम् ।
तथाहि कर्मसंबन्धे स्थितेऽपि कथमीदृशः ॥ १८७ ॥

महाप्रलय उच्येत महासृष्टिश्च वा कथम् ।
नन्वीश्वरेच्छया तत्र कर्मायाति निरुद्धताम् ॥ १८८ ॥

कर्मौदासीन्ययोगेन कर्मान्तरमपेक्षताम् ।
ईश्वरोऽथ न वा पूर्वपक्षे संभव एव च ॥ १८९ ॥

न संभवे स कुत्रांशे चैश्वर्यमधिगच्छतु ।
कर्मतः सर्वमेवेदं स्यात्सृष्टिप्रलयादिकम् ॥ १९० ॥

अथ कर्मानपेक्षो वा कर्मणां रोधनं ततः।
सदा निरुद्धान्येवेशः कर्माणि कुरुतां विभुः॥ १६१॥

ननु तेषां स्वभावोऽयं यद्भोगप्रसवात्मता।
कथं स्वभाव एष स्याद्यः परोपाधितां गतः॥ १६२॥

अनपेक्षो हि भावानां स्वभावः कर्मणां ततः।
ईशैषणानपेक्षाणां यद्रूपं तत्स्वकं वपुः॥ १६३॥

किं च प्रलयलीनानि कर्माणि स्थितिभाञ्ज्यपि।
किं प्रबोधयते देवः किं नु दृ[सृ]ष्टैर्हि तैः कृतम्॥ १६४॥

मलपाकाय चेत्सोऽपि सुदूरमपसारितः।
किं चात्मा विभुरेवैष स किं नाम करोति हि॥ १६५॥

इति पूर्वं विचारश्च विस्तरेण प्रपञ्चितः।
मृद्दण्डचक्रसूत्रेषु धीमान्कर्तेश्वरः स्थितः॥ १६६॥

कुम्भकारस्य कर्तृत्वं कुत्रांशे न्ववतिष्ठताम्।
अकृष्टपच्यबीजेषु प्ररोहप्रसवादिके॥ १६७॥

पूर्वं करोतु हेतुत्वं न सस्येष्विति को नयः।
इदं दुष्कृतमेतच्च सुकृतं फलभेदतः॥ १६८॥

इति यत्प्रविभक्तं किं तत्रास्येच्छैव जृम्भते।
स्वतन्त्रो यद्यसौ कस्मात्परपीडाकरीं निजाम्॥ १६९॥

इच्छां गृह्णाति यो नित्यं करुणारसनिर्भरः।
ननु स्वभावात्तत्तादृक्कर्मातः फलदायकम्॥ २००॥

प्रायश्चित्तादिकरणाच्छाम्येच्चेति विचारयन्।
देवस्तथैव तनुते शास्त्रं चित्रोपदेशकम्॥ २०१॥

शैवं स्वभाव एतादृक्कर्मणामिति को नयः।
बीजमङ्कुरसंसूतिस्वभावमिति मादृशः॥ २०२॥

पूर्ववृद्धव्यवहृतेर्विज्ञातुं प्रभविष्णवः।
ईश्वरस्तु निजेच्छातो विना न हि कदाचन॥ २०३॥

अवलोकितवान्कर्मफलवैचित्र्यचातुरीम्।
तस्माद्देवः सर्वकर्ता यदि स्या-
त्कर्तारः स्युर्नात्मवर्गाः कथञ्चित्।

नो कर्तारस्तेऽपि चेत्कर्मवन्ध्या-
नुद्दिश्यैनान्सर्वकर्ता न देवः ॥ २०४ ॥

इत्थं च भेददृष्ट्येदं कर्म नाम न मु [यु]क्तिमत् ।
एतावानत्र संक्षोपो व्यासोऽन्यत्र तु दर्शितः ॥ २०५ ॥

संवेदनात्मको देव एकस्तस्मात्स्वतः खलु ।
सर्वकर्ता स वैचित्र्यात्कर्मयोगीति भण्यते ॥ २०६ ॥

माया च नाम विश्वस्य या कारणमिति स्थिता ।
सा धरण्यन्ततत्त्वांशगर्भा नित्या यदि स्फुटम् ॥ २०७ ॥

प्रलयो न कदाचित्स्यान्नतु स व्यक्तिभावतः ।
व्यक्ति नाम न जानीमो विज्ञानं ग्राह्यता यतः ॥ २०८ ॥

तदीश्वरपरज्ञानग्राह्यतास्ति सदातनी ।
तस्यामविद्यमानायामीश्वरः कारणं कुतः ॥ २०९ ॥

स्फुटं प्रकुरुते कुम्भं तद्वदीशे भविष्यति ।
मैवमन्तर्बहीरूपकरणप्रविभेदतः ॥ २१० ॥

स्फुटास्फुटादिविज्ञानं युक्तं कुम्भकृति स्फुटम् ।
ईश्वरस्य स्फुटोदारपूर्वविज्ञानशालिनः ॥ २११ ॥

को न ज्ञातो भवेद्भागो यत्रापि व्यक्त्यपेक्षिता ।
सत्कार्यवादिनां देशे कारणेऽपि स्फुटं स्थितम् ॥ २१२ ॥

विश्वमित्यपि मायायां स्फुटं स्यादसमञ्जसम् ।
व्यापकाश्च शिवात्मानस्तत्त्वैः साकं परस्परम् ॥ २१३ ॥

कथं च नाम विद्यन्तां व्यापकत्वतिरोहितेः ।
विकासः परमो व्याप्तिः संविदो भेद उच्यते ॥ २१४ ॥

मायीयं कञ्चुकव्रातं तथा करणसंचयः ।
विचारितः पूर्वमेव कार्यवर्गश्च चर्चितः ॥ २१५ ॥

यावच्छिवपदाध्यासबन्ध्यं विश्वं न विस्फुरेत् ।
तत्स्वातन्त्र्यकथामात्रमेतदित्यवधार्यताम् ॥ २१६ ॥

एवं मलाद्यभावे हि का दीक्षा को हि दीक्षकः ।
दीक्षापात्रं च को वा स्यादिति किंचिन्न युज्यते ॥ २१७ ॥

शिष्येऽध्वन्यनले कुम्भे मण्डले स्रुक्करादिके ।
समस्ताध्वकृतो न्यासः कथं वाप्युपपद्यताम् ॥ २१८ ॥

नहि तावन्त एव स्युर्ननु संकल्पनावशात् ।
शोध्यशोधकभावोऽयं सर्व एवोदितो ननु ॥ २१९ ॥

कल्पितं चेत्फलेत्सत्यं मनोराज्यार्जितश्रियः ।
जयन्ति नाकसाम्राज्यलाभविश्रान्तियोगतः ॥ २२० ॥

किं नाम बलवद्रूपसंकल्पपथवर्तिनः ।
फलन्ति न तथा भावा ध्यानादिविषनाशवत् ॥ २२१ ॥

संकल्पदार्ढ्यमित्येव ध्यानं संशयरूषितम् ।
ध्यानं च न फलेदेव स्वयं पक्षद्वयाग्रहात् ॥ २२२ ॥

हन्त संकल्पनायोगाद्यदि जायेत तत्फलम् ।
किमसंविन्मयान्भावान्बाह्यान्कांश्चिदभीप्ससि ॥ २२३ ॥

संकल्पेनैव संस्कारः कुण्डाग्निगुरुशिष्यगः ।
स एव च फलाभासी तत्संविदवशिष्यते ॥ २२४ ॥

संविदश्च स्वतन्त्रायास्तथारूपावभासनम् ।
दीक्षेति किल मन्तव्यं मुच्यन्ते जन्तवो यया ॥ २२५ ॥

अत एव तिलाज्यादेः स्वरूपे ग्रहणे मितौ ।
क्रमो वा नियमो नेह कश्चिच्छास्त्रे निरूपितः ॥ २२६ ॥

ननु मन्त्रेषु किं नाम नियमः सर्ववर्णभाक् ।
रूपं परं हि कथितं दीक्षापि न तथा कथम् ॥ २२७ ॥

एवमेवार्णदाहस्य यद्भावान्संमतं हितम् ? ।
किं तु तावति ये रूढिं न प्राप्तास्तान्प्रति ध्रुवम् ॥ २२८ ॥

मान्त्रोऽयं नियमः प्रोक्त उपयोगं च गच्छति ।
प्रतिबुद्धा हि ते मन्त्रा विमर्शपथवर्तिनः ॥ २२९ ॥

स्वतन्त्रस्यैव चिद्धाम्नः स्वातन्त्र्यात्कर्तृतामयाः ।
मया[न्त्रा]विशन्त्येवाचार्यं तं तादात्म्यनियोगतः ॥ २३० ॥

स्वतन्त्रीकुर्वते यान्ति करणान्यपि कर्तृताम् ।
इत्थं दीक्षादिविधये येऽप्यन्ये विधयो मताः ॥ २३१ ॥

किं नाम कुर्वतां कृत्यं निषेधं त्वपि वा कथम्।
तेऽप्यत्रैवोपपद्यन्ते तत्सर्वं विहितं त्विह ॥ २३२ ॥

सर्वं चैतदमुत्रैव प्रतिसिद्धं यतः स्फुटम्।
प्रतिषेधे दर्शितेऽस्य किं चाद्वैतपथाश्रितः ॥ २३३ ॥

प्रतिषेधोऽपि विहितः सोऽपि च प्रतिषिध्यते।
इत्थं स्वसंविदम्भोधिः स्वात्मनि प्रोच्छलत्ययम् ॥ २३४ ॥

इत्थं च विश्वमेवेदं जगदानन्दसुन्दरम्।
तद्विपक्षं च भेदांशमित्थं क्षपयतेतराम ॥ २३५ ॥

परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रस्य सर्वतः।
तावता स्वप्रभाभारभास्वराः सुमरीचयः ॥ २३६ ॥

शिवचन्द्रांशुसङ्घातपातमात्रविलापितः ।
समस्तभावशीतांशु(नांश)कालकूटो रसायते ॥ २३७ ॥

तत्रानिशं निमज्जन्तस्तद्रसापानघूर्णिताः।
तद्रसीभूय तिष्ठामः शुद्धास्तापत्रयोज्झिताः ॥ २३८ ॥

परमेशमुखं तु शक्तिरुक्ता
भवतीच्छा ननु सोद्भवं गता।
प्रतिपद्यत ईश्वरादिभिन्न-
स्थितिविज्ञानशशाङ्कशक्तिवृत्तम् ॥ २३९ ॥

शशिनः किल तस्य सर्वतो यः
परिपूर्णः प्रसृतो मरीचिपुञ्जः।
इयमेव हि सा क्रियात्मिकोक्ता
परमेशस्य जगन्मयी स्वशक्तिः ॥ २४० ॥

तदिदं त्रिकशक्तिनिर्भरं
परमं भैरवमेव जृम्भते।
ननु तद्व्यतिरेकि संभवेत्
स्वविजृम्भा विजयोऽस्य कीर्तितः ॥ २४१ ॥

तत एव जगज्जयन्त्यमी
स्फुटमर्थः प्रकटोऽपि युज्यते नः।
बहुवाचकयोग ईदृशं तत्
परपूर्णत्वममष्य वाक्यभेदम् ॥ २४२ ॥

इत्येक एव श्लोकोऽयं चिदात्मा भैरवः स्वयम् ।
समस्तभावसंदर्भनिर्भरो व्याकृतः स्फुटम् ॥ २४३ ॥

संसारगरनाशाय दाढर्चा(तार्क्ष्या)धिष्ठितदृष्टयः ।
विश्व[ष]मेवोपयुञ्जानाः प्राप्नुवन्त्यामृतीं स्थितिम् ॥ २४४ ॥

इति दर्शितमेतावत्स्वप्रकाशस्वसंविदा ।
सिद्धं तद्व्यतिरेकेण न किंचिदेव कल्पते ॥ २४५ ॥

यावत्स्वसंविद्विश्रान्तं यत्तावत्तत्सदेव हि ।
कालान्तरव्यपेक्षे हि सत्यत्वं स्यान्न कुत्रचित् ॥ २४६ ॥

संविदः कालयोगश्च विस्तरेण निवारितः ।
तत्स्वसंविद्यथा देशं वितरेद्वर्तते तथा ॥ २४७ ॥

तथा संविद्यक्षमये[य्यां]निकषाश्मनि रोपितम् ।
न यत्तत्संशयायैव शास्त्रेऽप्युक्तमवस्तु तत् ॥ २४८ ॥

स्वसंविदनुषारोहि प्रलापान्न विशिष्यते ।
तच्छास्त्रं प्रक्रिया सा च यत्संविदि निवर्तते ॥ २४९ ॥

हृदयाज्जगतो जाताः सर्वस्यैते क्षयोदयाः ।
स्वप्नस्येव सुषुप्ताख्यात्स्वसंविच्छास्त्रचर्चिताः ॥ २५० ॥

रूपालोकमनस्कारसामग्री संहृतिः स्थितिः ।
सृष्टिर्निमेषोन्मेषौ च सतां संकोचकल्पनम् ॥ २५१ ॥

इत्यादिका मातृमेयमानरूपा स्थितिः सदा ।
स्वसंविदः सुपूर्णायाः प्रपञ्चरचना स्वयम् ॥ २५२ ॥

सर्वसर्वात्मदिग्देशकालाकारा स्वयं हि सा ।
सत्यमिथ्यात्वनिर्णीतिस्तत एव हि जायते ॥ २५३ ॥

आचार्योत्पलदेवोऽपि तदेतदुपदिष्टवान् ।
बहिः सदसदात्मापि स्वसंविदि मदीयदृक् ॥ २५४ ॥

पश्यत्विति स्वतन्त्रस्य नियतिः सेन्द्रियाभिधा ।
सैव रूढा शिवादा च क्रिमेः स्वां संविदं श्रिता ॥ २५५ ॥

तदेव देवे संसारः स शिवः परमेश्वरः ।
तत्र विश्रान्तिमापन्नो मुक्त इत्यभिधीयते ॥ २५६ ॥

एतत्प्रसादाज्जीवन्ति ब्रह्माद्याः स्थावरान्तकाः ।
अविलुप्ता सदा सेयं संवित्तिरिति गृह्यताम् ॥ २५७ ॥

विभान्त्यपि हि सा देवी न तया रहितं क्वचित् ।
आत्मानं साधयेत्क्वापि क्वापि दूषयते क्वचित् ॥ २५८ ॥

अन्यथैव स्थापयते न च याति विकारिताम् ।
साधनादूषणान्यत्ववन्ध्यापि परमेश्वरी ॥ २५९ ॥

भासते च तथात्वेन तत्स्वतन्त्रा स्फुटा हि सा ।
श्रीमान्महेश्वरो देवः पूर्वेषामपि यो गुरुः ॥ २६० ॥

स एतदेव प्रोवाच लोकानुग्रहहेतुतः ।
मूढाः किं निःसारे वायसविरटितकल्पे
तिष्ठथ वचसि वृथैवं स्वां संविदमावर्ज्य ।
संविद्देवतयैव यदादिष्टं निकटेऽप्यथ
सर्वं आद्रियमाणास्तत्तद्देशे जीवन्मुक्ता भवन्ति । २६१ ॥

तदत्र नीतौ संवित्तिरेवासौ गुरुरुच्यते ।
गिरत्येव यतो विश्वं सृष्टिसंहृतियोगतः ॥ २६२ ॥

तदत्र मुख्या या रूढिः संबन्धः पर उच्यते ।
एनया यद्यदादिष्टं ज्ञानं सांसिद्धिकं तु तत् ॥ २६३ ॥

यत्रास्मद्गुरुवर्गस्य स्थिता नित्यव्यवस्थितिः ।
त्रैयम्बकादिसंतानभेदो यस्मात्प्रवर्तते ॥ २६४ ॥

यत्रोक्तं पूर्वमज्ञानतादात्म्यं नश्यतीत्यपि ।
स्वसंविदस्तु वैचित्र्यं गृह्णत्या भात्ययं ततः ॥ २६५ ॥

अन्तरालमहद्दिव्यादिव्यादिः शास्त्रसंगमः ।
तत्त्ववन्निजवागंशून्गुरोरात्मविनिर्मितान् ? ॥ २६६ ॥

....

प्राधान्यं प्रकटं स्वसंविदः ।
गुरुतः किल शास्त्रतः स्वतः
तदयं मुख्यतया कृतः श्रमः ॥ २६७ ॥

शास्त्रवृत्तिपरतन्त्वित्रो गुरुः
स्वात्मसंविदि च तत्प्रतिष्ठितम् ।
तेन सर्वमिदमात्मसंविदा
सिद्धिमेति नहि जात्वसह्यताम् ॥ २६८ ॥

एतच्छास्त्रं प्रयत्नेन चर्च्यतां हे मुमुक्षवः।
मा वृथैवायुरायस्तमन्यशास्त्रेषु नीयताम्॥ २६९॥

अभेददृष्टिर्या काचिद्भेददृष्टिरथापि वा।
सात्रैवायाति निर्वाहं तेनैतत्प्रविचार्यताम्॥ २७०॥

स्वप्नकालपरिज्ञातवी·····················यथा तथा।
एतच्छास्त्रसमभ्यासप्रबुद्धहृदयः सदा॥ २७१॥

स्वसंविदेव तच्छास्त्रं सा चापेक्षाविवर्जिता।
तथा यद्यभिधीयेत स्वतः प्रामाण्यमुच्यताम्॥ २७२॥

शासनं शासितव्यं च शासकं चेति यत्किल।
तत्तत्राकालकलितं स्वातन्त्र्याद्वैतसुन्दरम्॥ २७३॥

तामवस्थितिमात्मीयां गर्भीकृत्यानपायिनीम्।
श्रीकण्ठनाथः प्रोवाच श्रीमत्किरणशासने॥ २७४॥

सर्वमेतत्प्रवृत्त्यर्थं श्रोतॄणां तु विभेदतः।
अर्थभेदात्तु भेदोऽयमुपचारात्प्रकल्प्यते॥ २७५॥

फलभेदो न कल्प्योऽत्र कल्प्यश्चेदयथायथम्।
दशकाष्टादशाष्टाष्टभेदभिन्नमिदं विभोः॥ २७६॥

शिवसद्भावलाभैकफलं तल्लाभप्रोत्सुके।
अधिकारिण्यणौ जातिकुलवर्णाद्यनादरात्॥ २७७॥

प्रवृत्तमेकवाक्यत्वं यावदासाद्य वर्तते।
अङ्गाङ्गिवृत्तवैचित्र्यात्तावदेकमिदं विदुः॥ २७८॥

त्रिकशास्त्रं तथाभूतो गुरुरत्राद्वयात्मकः।
तदनन्तरवाक्यांशपुञ्जः प्रकरणानि च॥ २७९॥

मायीयभेदवृत्तान्तस्फुटभावे भवन्ति च।
तथापि शिवसंप्राप्तिर्मुख्यमन्ते फलं स्थितम्॥ २८०॥

अधिकारी चैक एव शिवतावाप्तिभाजनम्।
तथापि तावन्मात्रे च जाते प्रकरणात्मनि॥ २८१॥

यादृक्फलं स्फुटं मुख्यं पर्यन्तफलमङ्गि वा।
तदङ्गं वा तद्विपक्षे परपक्षे परं च वा॥ २८२॥

अपि तत्तद्द्विपक्षांशसमुद्भावनभाजनम् ।
तथोचितशरीरादेस्तथा संस्कारभागिनः ॥ २८३ ॥
गुरोः शिष्यस्य चाप्युक्तस्तादृशोऽधिक्रियाक्रमः ।
तथा च मृत्युविध्वंसिरसायनविधिं श्रितः ॥ २८४ ॥
पूर्वं संस्कारलाभाय क्वाथवान्तिविरेचनैः ।
दीक्षया या च विकृता(तिः)नोत्तरत्र क्रियाविधौ ॥ २८५ ॥
तेनाधिकारिनियमस्तद्देहविदशादिजः ।
तेनोच्यते वैष्णवाद्याः पशुशासनसंश्रिताः ॥ २८६ ॥
न शैवेऽधिकृतास्तन्त्रे न शैवा वामगोचरे ।
तेऽपि नो दक्षिणे तेऽपि न स्युः कुलमते त्रिके ॥ २८७ ॥
उक्तं श्रीभैरवकुले पञ्चदीक्षाक्रियोचितः ।
गुरुरुल्लङ्घिताधस्त्यस्रोता वा त्रिकशास्त्रगः ॥ २८८ ॥
इत्थमेकाधिकारित्वमात्मतत्त्वसमाश्रयात् ।
संस्काराश्रय..........भेदाद्भिन्नाधिकारिता ॥ २८९ ॥
स्वच्छन्दतन्त्रे तेनोक्तं सर्वशास्त्रे शिवः फलम् ।
यतः शिवोद्भवाः सर्वे शिवधामफला इति ॥ २९० ॥
तत्रैव च पुनः प्रोक्तमूर्ध्वतत्त्वविवेचने ।
यन्न सांख्यैर्न योगीन्द्रैर्न प्रिये पाञ्चरात्रिकैः ॥ २९१ ॥
इत्यादि यावदाक्षिप्तं वादिनां तु शतत्रयम् ।
त्रिषष्टया चाधिकं ते हि तावन्मात्रविवेचकाः ॥ २९२ ॥
कथं स्युरपरिच्छिन्नशिवतत्त्वविदात्मकाः ।
अथ तत्रांशमात्रेऽपि शिवसद्भावमेव ते ॥ २९३ ॥
आरोपयेयुस्तत्तावन्नैव सुस्पष्टसंगतिः ।
देवदत्तादिवाक्ये हि सर्वतः पूर्व[र्ण]विग्रहे ॥ २९४ ॥
देवदत्तपदश्रोता तावन्मात्रपदे कथम् ।
समग्रपूर्ववाक्यानां समारोपं करिष्यति ॥ २९५ ॥
कथं चाधिगमस्तस्य तावतोऽर्थस्य वाक्यतः ।
तस्मादेवेति चेत्तर्हि न पदश्रोतृता न च ॥ २९६ ॥
तावन्मात्रस्य सोऽस्त्यर्थ इत्थं प्रकृतिगोचरे ।
समग्रशिवशास्त्रार्थज्ञप्त्या संपूर्णरूपया ॥ २९७ ॥

योगसांख्यार्हतन्यायपाश्चरात्रश्रुतिस्मृतीः ।
यद्येव शिवतत्त्वेन संपूर्णं परिकल्पयेत् ॥ २९८ ॥
तावदस्तु न तु स्फारस्तावांस्तत्रेति चर्चितम् ।
ज्ञप्तिश्च शिवतत्त्वस्य तत्संस्कारपुरःसरा ॥ २९९ ॥
अन्यथा प्रत्यवायः स्यादुपदेष्टृपदेश्ययोः ।
तत्संस्कारग्रहश्चेत्स्यात्कामं शास्त्रार्थ ईदृशः ॥ ३०० ॥
न तु वैष्णवता तस्य सांख्यता श्रौततापि वा ।
अन्यसंस्कारमूर्ध्वोर्ध्वं गृहीत्वाप्यनुतिष्ठति ॥ ३०१ ॥
वैष्णवाद्येव तद्र्यस्य प्रत्यवायो महत्तरः ।
नन्वद्वयपदेऽमुष्मिन्केयं मुख्या प्रकल्पना ॥ ३०२ ॥
किं ब्रूषे स्वयमेव त्वं भेदोपहतवृत्तिकः ।
एतदेव परं द्वैतं भवानेव हि संश्रितः ॥ ३०३ ॥
यदहं वैष्णवो भूष्णुः शैवे किं नाधिकारवान् ।
तत्स्वयं भेदमूढस्त्वं भेदे च नियतेर्बलात् ॥ ३०४ ॥
ततस्तैः प्रत्यवायः स्याद्योग इत्युपपादितम् ।
किं च तादात्म्ययोगेन देवता पूज्यते ततः ॥ ३०५ ॥
विष्णुतादात्म्यमापन्नः कथं रुद्रं प्रपूजयेत् ।
गीतासु च ततो गीतं यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३०६ ॥
तादात्म्यभावना योगाः फलं मन्त्राः स्व······ ।
दद्युस्तद्भावितात्मातः फलकामस्य सिद्धिदः ॥ ३०७ ॥
मोक्षकामस्य तच्छास्त्रमोक्षलिप्सोरपि स्फुटम् ।
तद्दोषभावनाक्रान्तः क्षमस्तावति योजने ॥ ३०८ ॥
मुख्यस्तावदयं कल्पो यो यत्रैव प्रतिष्ठितः ।
नित्यं तादात्म्यमापन्नः स तत्राधिकृतस्त्विति ॥ ३०९ ॥
अत एव ततो ग्राह्यं ज्ञानमित्यभिधीयते ।
स हि तादात्म्यमापन्नस्तद्भावनविधिक्रमात् ॥ ३१० ॥
शिष्यस्तदैव शास्त्रं तु गृह्णन्पूर्वापरक्रमात् ।
कथं स्वबुद्धया संधत्तां तावद्यत्तेन संहितम् ॥ ३११ ॥
यस्तु संधातुमीहेत स साक्षात्परमेश्वरः ।
तस्य किं वा गुरुः कुर्यात्सोऽन्येषां गुरुरुच्यते ॥ ३१२ ॥

नान्यतो वेदविद्भ्यश्चेत्यत एव हि मन्वते।
तस्मात्तादात्म्यमापन्नो गुरुरित्यभिधीयते॥ ३१३॥
स च यावति यत्रैव तत्र तावति नान्यथा।
ननु वैष्णवशास्त्रार्थस्तत्कालं शिवभावनात्॥ ३१४॥
तादात्म्यं गुरुतां हन्त पूर्णधीः प्रलपत्ययम्।
रामरावणनाट्येषु नह्येता नटभूमिकाः॥ ३१५॥
नेपथ्यादिपरावृत्त्या येनान्यत्वं प्रपद्यते।
वैष्णवो विष्णुरेवाहं तद्दासो वेति चर्चयन्॥ ३१६॥
इदानीं न तथास्मीति किमेतत्सुसमञ्जसम्।
अत्र ह्येकतमा संविन्मिथ्याज्ञानत्वमश्नुते॥ ३१७॥
यद्वा स एव पतितः शिष्यो वा पतितो भवेत्।
तस्मान्मुख्यो ह्ययं कल्पः प्रतिशास्त्रं गुरुर्गुरुः॥ ३१८॥
उक्तं स्वतन्त्रशास्त्रेषु नासौ सिद्धिफलप्रदः।
अन्यशास्त्ररतो यः स्यात्तच्छास्त्रनिरतोऽपि वा॥ ३१९॥
लोकेऽपि यावदीदृक्षः प्रवादो ज्योतिरादिके।
विष्णोर्भागवता मगाश्च सवितुः शंभोर्जटाभस्मिनो
मातॄणामथ मातृमण्डलविदो विप्रास्त्वथ ब्रह्मणः।
शाक्याः सत्त्वहितस्य बुद्धवपुषो नग्नास्तथैवार्हतो
यो यैर्देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया॥ ३२०॥
अत एवाधिकज्ञानशाली संनिहितो यदि।
देशे तत्र भवेन्नाना नाधिकारस्य भाजनम्॥ ३२१॥
यस्त्वस्मिन्पूर्णसंबोधे रूढो वास्तवशासने।
उत्तरोत्तररूढ्यर्थं शिशोः करणमानसम् (?)॥ ३२२॥
फलसंपत्तये वापि भाव शवशशालिनः।
अनुग्रहं स वै कुर्यात्पूर्णत्वादूर्ध्ववृत्तितः॥ ३२३॥
नन्वद्वये किमूर्ध्वं स्यान्न किंचिद्भेदमोहिताः।
भवन्तस्त्वधरावस्था भेद एवाधरो यतः॥ ३२४॥
तस्माद्ये केचनान्ये स्युः पशुशासनवर्तिनः।
वैष्णवाः सौगताः श्रौतास्तथा श्रुत्यन्तवादिनः॥ ३२५॥
इत्यादयो नाधिकृता जातुचित्पतिशासने।
उक्तवान्यत्र शास्त्रेष्वप्यधिकारिविवेचने॥ ३२६॥

यो वैष्णवो मनुं दद्याच्छैवं मूढमतिः शिशोः ।
तं पापं वञ्चकं मत्वा शिशुर्न्याय्यं समाचरेत् ॥ ३२७ ॥

इहाप्युक्तं मोक्षदः स्यात्स्वभ्यस्तज्ञानवानिति ।
अभ्यस्तं च परं ज्ञानं यतो नास्त्येव विच्युतिः ॥ ३२८ ॥

परमाद्वयविज्ञानान्न खल्वप्यस्ति विच्युतिः ।
स्वात्मपक्षस्थिताशेषज्ञाननिर्भरवृत्तिकः ॥ ३२९ ॥

कथं को वा कुतो वापि च्यवतां तिष्ठतु क्व वा ।
इत्थं यो एष शास्त्रार्थः स्थितः शक्तिप्रभावतः ॥ ३३० ॥

अन्तःकृताशेषतत्त्ववर्णादिभरनिर्भरः ।
सर्वाभिधो भैरवात्मा सोऽयमेव स्वरूपभाक् ॥ ३३१ ॥

शास्त्रेऽस्मिन्परमेशेन ज्ञानचन्द्राख्यया कृतः ।
तद्व्याख्यातमिदं प्रसन्नगहनं वाक्यं मया स्वागम-
प्रामाण्यप्रतिपादनक्रमवशात्तत्प्रसङ्गादपि ।
अत्रारूढधियां प्रमाणमहिमा विश्वाद्वयोद्दीपितो
भातीति स्वयमेव सत्यहृदया ज्ञास्यन्ति किं श्लाघितैः ॥ ३३२ ॥

ये सम्यक्प्रविचारिणो ननु शिवाः कस्तान्प्रति प्रोद्यमः
किं तैर्ये प्रविमर्शदूरशिखरारोहक्रमे पङ्गवः ।
पाषाणायितवृत्तयः पुनरमी ये शास्त्रवन्ध्या नराः
संरम्भः प्रलयाम्बुधेरिव ततः स्वात्मन्ययं घूर्णते ॥ ३३३ ॥

संशाम्य स्वयमात्मनि त्यज जवाज्ज्वालाजटाडम्बरान्
भोः कल्पानल दाह्यमस्ति भवतो नाद्यापि किञ्चिद्यतः ।
त्वत्प्रोल्लासविघूर्णनाघनघुरद्घोरस्फुलिङ्गाशतैर्विश्वं
व्याप्य विलीनतां गतमिदं द्राक्त्वत्प्रकाशात्मकम् ॥ ३३४ ॥

प्रवरपुरनामधेये पुरे पूर्वे काश्मीरिकोऽभिनवगुप्तः ।
मालिन्यादिमवाक्ये वार्तिकमेतद्रचयति स्म ॥ ३३५ ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते
श्रीमालिनीविजयोत्तरश्लोकवार्तिके
द्वितीयः काण्डः ॥